टीकाकार

रायबहादुर

बाबू जालिम सिंह

अष्टावक्र-गीता

भाषा-टीका-सहित

टीकाकार

रायबहादुर

बाबू जालिमसिंह

संशोधक

डॉ० बृजेश कुमार शुक्ल

प्रकाशक

तेजकुमार बुकडिपो (प्रा०) लिमिटेड, लखनऊ

उत्तराधिकारी—नवलकिशोर बुकडिपो,

लखनऊ

पोस्ट-बाक्स न० ८५, हजरतगंज, लखनऊ

ग्यारहवाँ संस्करण

सन् १९९६ ई०

मूल्य 55/-

प्रकाशक—

तेजकुमार-बुकडिपो (प्रा०) लिमिटेड,

लखनऊ

मुद्रक—

श्रीमती कमला भार्गव

तेजकुमार प्रेस (प्रा०) लिमिटेड, लखनऊ

निवेदन

जब मैं पाठशाला में विद्याध्ययन करता था, तभी से हरिकीर्तन की, शुभ मार्ग पर चलने की, असत् मार्ग के त्याग और सन्मार्ग के ग्रहण करने की मेरे मन में इच्छा उत्पन्न हुआ करती थीं।

जब मैं इन्सपेक्टर डाकखानेजात गोंडा और बहराइच का हुआ, तब गोस्वामी श्री तुलसीदासजी कृत रामायण पढ़ने की और श्रीसत्यदेवजी स्वामी की कथा सुनने की अति रुचि उत्पन्न हुई। तदनुसार जो समय सरकारी काम करने से बचता था, उसमें भगवत् आराधना करने लगा।

दैव की इच्छा से कभी-कभी महात्मा पुरुषों का सत्संग हो जाता, और उनसे वेदान्त-शास्त्र की सूर्यवत् वाणी को सुनकर अन्तःकरण के अन्धकार को नाश करने लगा।

जब मैं लखनऊ में असिस्टेन्ट सुपरिंटेंडेन्ट होकर आया, तब ईश्वर की कृपा से मेरे पूर्व-जन्म के शुभ कर्म उदय हो आये और पण्डित श्री १०८ श्रीयमुनाशङ्करजी वेदान्ती का दर्शन हुआ। उनके सरल एवं प्रीतियुक्त उपदेश से मेरे यावत् तमोमय अन्धकार थे सब नष्ट हो गये और मैं अपने शान्त, अद्वैत और निर्मल आत्मा में स्थित हो गया।

जब पण्डितजी का देहान्त हो गया, तब अन्य अनेक वेदान्तवित् पण्डितों और सन्यासियों का संग रहा, उनमें श्री १०८ स्वामी परमानन्दजी का भी संग होता रहा और उसकी सदा पूर्ण कृपा बनी रही।

जब मैं नैनीताल में पोस्टमास्टर था, तब यह इच्छा हुई थी कि वेदान्त के प्रसिद्ध ग्रन्थों को पदच्छेद, अन्वय और शब्दार्थ के साथ सरल मध्यदेशीय भाषा में अनुवाद करूँ। मेरे इस सत्सङ्कल्प को परमात्मा ने पूरा किया, तदर्थ उस परब्रह्म परमात्मा को कोटिशः धन्यवाद।

हरि ॐ तत्सत् हरि ॐ सत्सत्, हरि ॐ तत्सत्

निवेदक—

लाला शिवदयालु सिंहात्मज—

जालिम सिंह

ॐ नमः परमात्मने

उपोद्घात

एक समय राजा जनकजी घूमने गये थे। राह में अष्टावक्रजी को आते हुए देखा। उन्होंने घोड़े से उतरकर ऋषि को सष्टांग प्रणाम किया। परन्तु ऋषि के शरीर को देखकर राजा के चित्त में यह घृणा उत्पन्न हुई कि परमेश्वर ने इनका कैसा कुरूप शरीर रचा है। ऋषि के शरीर में आठ कुब्ज थे। इसी से उनका शरीर देखने में कुरूप प्रतीत होता था; और जब वे चलते थे तब उनका शरीर आठ अंगों से वक्र याने टेढ़ा हो जाता था। इसी कारण उनके पिता ने उनका नाम अष्टावक्र रक्खा था। वे आत्मज्ञान में बड़े निपुण थे और योग-विद्या में भी बड़े चतुर थे। एवं उन्होंने अपनी विद्या के बल से राजा के चित्त की घृणा को जान लिया और उन्होंने उस राजा को उत्तम अधिकारी जानकर कहा—हे राजन्! जैसे मंदिर के टेढ़ा होने से आकाश टेढ़ा नहीं होता है और मंदिर के गोल किंवा लम्बा होने से आकाश गोल किंवा लम्बा नहीं होता है, क्योंकि आकाश का मंदिर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, आकाश निरवयव है और मंदिर सावयव है, वैसे ही आत्मा का भी शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि आत्मा निरवयव है और शरीर सावयव है। आत्मा नित्य है और शरीर अनित्य है। शरीर के वक्र आदिक धर्म आतमा में कदापि नहीं आ सकते हैं। अतएव हे राजन्! ज्ञानवान् की आत्म-दृष्टि रहती है और अज्ञानी की चर्म-दृष्टि रहती है। इस कारण तू चर्म-दृष्टि को त्याग करके और आत्म-दृष्टि को ग्रहण करके जब देखेगा, तब तेरे चित्त से घृणा दूर हो जावेगी। हे राजन्! चर्म-दृष्टि से अज्ञानी देखते हैं ज्ञानवान नहीं देखते हैं।

ऋषि के अमृत-रूपी वचनों को सुन करके राजा के मन में आत्म-ज्ञान के प्राप्त होने की उत्कृष्ट इच्छा उत्पन्न हुई। अतएव राजा ने ऋषि से प्रार्थना की "हे भगवन्! आप मेरे घर को पवित्र कीजिए और कुछ दिन वहाँ पर

निवास करके मेरे चित्त के संदेहों को दूर करके मुझमें भी आत्म-दृष्टि को उत्पन्न कीजिए।" तदनुसार ऋषिजी ने राजा की प्रार्थना को स्वीकार किया और राजा के साथ आये। उसके बाद राजा ने अपने घर में एक उत्तम स्थान निश्चित करके एक सिंहासन लगाकर बड़े सत्कार से उसके ऊपर ऋषिजी को बैठाया और राजा अपने चित्त के संदेहों को पूछने लगा और अष्टावक्रजी उनका उत्तर देने लगे—इन प्रश्नोत्तरों के द्वारा अज्ञान का निराकरण और ज्ञान का उदय हुआ। वही ज्ञान इस पुस्तक में मुमुक्षुओं के लाभार्थ प्रकाशित किया जाता है। यह संशोधित संस्करण अवश्य ही पाठकों को रुचिकर प्रतीत होगा, यही मेरी कामना है।

संशोधक
डॉ० बृजेश कुमार शुक्ल
प्रवक्ता संस्कृत विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

विषय-सूची

१—पहला प्रकरण १
२—दूसरा प्रकरण ४२
३—तीसरा प्रकरण ७८
४—चौथा प्रकरण ९२
५—पाँचवाँ प्रकरण १०४
६—छठा प्रकरण १०६
७—सातवाँ प्रकरण ११५
८—आठवाँ प्रकरण १२१
९—नवाँ प्रकरण १२६
१०—दसवाँ प्रकरण १५१
११—ग्यारहवाँ प्रकरण १६४
१२—बारहवाँ प्रकरण १८३
१३—तेरहवाँ प्रकरण १९३
१४—चौदहवाँ प्रकरण २०१
१५—पन्द्रहवाँ प्रकरण २११
१६—सोलहवाँ प्रकरण २३८
१७—सत्रहवाँ प्रकरण २५१
१८—अठारहवाँ प्रकरण २७३
१९—उन्नीसवाँ प्रकरण ३७६
२०—बीसवाँ प्रकरण ३८४

—:०:—

श्रीपरमात्मने नमः ।

अष्टावक्र-गीता

भाषा-टीका-सहित

पहला प्रकरण ।

मूलम् ।

जनक उवाच ।

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति ।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद्ब्रूहि मम प्रभो ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

कथम्, ज्ञानम्, अवाप्नोति, कथम्, मुक्तिः, भविष्यति, वैराग्यम्, च, कथम्, प्राप्तम्, एतत्, ब्रूहि, मम, प्रभो ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
प्रभो	हे स्वामिन् !	च	और
कथम्	कैसे	वैराग्यम्	वैराग्य
+पुरुषः	पुरुष	कथम्	कैसे
ज्ञानम्	ज्ञान को	प्राप्तम्	प्राप्त
अवाप्नोति	प्राप्ति होता है	भविष्यति	होगा
+च	और	एतत्	इसको
मुक्तिः	मुक्ति	मम	मुझे
कथम्	कैसे	ब्रूहि	बतलाइये
भविष्यति	होगी ।		

भावार्थ ।

राजा जनकजी अष्टावक्रजी से प्रथम तीन प्रश्नों को पूछते हैं—

(१) हे प्रभो ! पुरुष आत्म-ज्ञान को कैसे प्राप्त करता है ?

(२) जीव संसार बंधन से कैसे मुक्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणरूपी संसार से कैसे छूट जाता है ?

(३) एवं वैराग्य की प्राप्ति कैसे होती है ?

राजा का तात्पर्य यह था कि ऋषि वैराग्य का स्वरूप, उसका कारण और उसका फल; ज्ञान का स्वरूप, उसका कारण और उसका फल तथा मुक्ति का स्वरूप, उसका कारण और उसके भेद मुझे सविस्तार बतलायें ॥ १ ॥

राजा के प्रश्नों को सुनकर अष्टावक्रजी ने अपने मन में विचार किया कि संसार में चार प्रकार के पुरुष हैं। एक ज्ञानी, दूसरा मुमुक्षु, तीसरा अज्ञानी, चौथा मूढ़। चारों में से राजा तो ज्ञानी नहीं है, क्योंकि जो संशय और विपर्यय से रहित होता है और आत्मानन्द करके आनंदित होता है, वही ज्ञानी होता है। परन्तु राजा ऐसा नहीं है, किन्तु यह संशय से युक्त है। वह अज्ञानी भी नहीं है क्योंकि जो विपर्यय ज्ञान और असंभावनादिकों से युक्त होता है उसका नाम अज्ञानी है, परंतु राजा ऐसा भी नहीं है। जिसके-चित्त में स्वर्गादिक फलों की कामनाएँ भरी हों, उसका नाम अज्ञानी है, परन्तु राजा ऐसा भी नहीं है। यदि ऐसा होता, तो यज्ञादिक कर्मों के विषय में विचार करता, सो तो इसने नहीं किया है। एवं मूढ़बुद्धिवाला भी नहीं है, क्योंकि जो मूढ़बुद्धिवाला होता है, वह कभी भी महात्मा को दण्डवत्-प्रणाम

नहीं करता है, किन्तु वह अपनी जाति और धनादिकों में अभिमान में ही मारा जाता है, ऐसा भी राजा नहीं है क्योंकि हमको महात्मा जानकर हमारा सत्कार कर, अपने भवन में लाकर, संसार-बंधन से छूटने की इच्छा करके जिज्ञासुओं की तरह राजा ने प्रश्नों को पूछा है । इससे सिद्ध होता है कि राजा जिज्ञासु अर्थात् मुमुक्ष है और अध्यात्म विद्या का पूर्ण अधिकारी है, और साधनों के बिना अध्यात्म-विद्या की प्राप्ति नहीं होती, अतः अष्टावक्रजी प्रथम राजा के प्रति साधनों को कहते हैं ।

मूलम् ।

अष्टावक्र उवाच ।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

मुक्तिम्, इच्छसि, चेत्, तात, विषयान, विषवत्, त्यज, क्षमा-आर्जव-दया-तोष-सत्यम्, पीयूषवत्, भज ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
तात	हे प्रिय !	+च	और
चेत्	यदि	क्षमार्जव दया-तोष-सत्यम्	क्षमा, आर्जव, दया, सन्तोष और सत्य को
मुक्तिम्	मुक्ति को	पीयूषवत्	अमृत के सदृश
इच्छसि	तू चाहता है, तो	भज	सेवन कर ॥
विषयान्	विषयों को		
विषवत्	विष के समान		
त्यज	छोड़ दे		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी जनकजी के प्रति कहते हैं कि हे तात! यदि तुम संसार से मुक्त होने की इच्छा करते हो, तो चक्षु, रसना आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के जो शब्द, स्पर्श आदि पाँच विषय हैं, उनको तुम विष की तरह त्याग दो, क्योंकि जैसे विष के खाने से पुरुष मर जाता है, वैसे ही इन विषयों के भोगने से भी पुरुष संसार-चक्र-रूपी मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। इसलिए मुमुक्षु को प्रथम इनका त्याग करना आवश्यक है, और इन विषयों के अत्यन्त भोगने से रोग आदि उत्पन्न होते हैं और बुद्धि भी मलिन होती है। उसे सार और असार वस्तु का विवेक नहीं रहता है। इसलिए ज्ञान के अधिकारी को अर्थात् मुमुक्षु को इनका त्याग करना ही मुख्य कर्तव्य है।

प्रश्न—हे भगवन्! विषय-भोग के त्यागने से शरीर नहीं रह सकता है, और जितने बड़े-बड़े ऋषि, राजर्षि हुए हैं, उन्होंने भी इनका त्याग नहीं किया है और वे आत्मज्ञान को प्राप्त हुए हैं और भोग भी भोगते रहे हैं। फिर आप हमसे कैसे कहते हैं कि इनको त्यागो।

उत्तर—अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे राजन्! आपका कहना सत्य है, एवं स्वरूप से विषय भी नहीं त्यागें जाते हैं, परन्तु इनमें जो अति आसक्ति है अर्थात् पाँचों विषयों में से किसी एक के अप्राप्त होने से चित्त की व्याकुलता होना, और सदैव उसी में मन का लगा रहना आसक्ति है, उसके त्याग का नाम ही विषयों का त्याग है। एवं जो प्रारब्धभोग से प्राप्त हो, उसी में संतुष्ट होना, लोलुप न होना और उनकी प्राप्ति के लिए असत्य-भाषण

आदि का न करना किन्तु प्राप्ति काल में, उनमें दोष-दृष्टि और ग्लानि होनी, और उसके त्याग की इच्छा होनी, और उनकी प्राप्ति के लिये किसी के आगें दीन न होना, इसी का नाम वैराग्य है। यह जनकजी के एक प्रश्न का उत्तर हुआ।

प्रश्न—हे भगवन्! संसार में नग्न रहने वाले को, तथा भिक्षा माँगकर खानेवाले को लोग वैराग्यवान् कहते हैं और उसमें जड़भरत आदि के दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। आपके कथन से लोगों का कथन विरुद्ध हो रहा है।

उत्तर—संसार में जो मूढ़बुद्धिवाले हैं वे ही नग्न रहने वालों और माँगकर खानेवालों को वैराग्यवान् जानते हैं, और नंगों से कान फुकवाकर उनके पशु बनते हैं। परन्तु युक्ति और प्रमाण से यह वार्ता विरुद्ध है।

यदि नग्न रहने से ही वैराग्यवान् होता हो, तो सब पशु और पागल आदि को भी वैराग्यवान् कहना चाहिए, पर ऐसा तो नहीं है और यदि माँगकर खाने से ही वैराग्यवान् हो जावे, तो सब दीन दरिद्रियों को भी वैराग्यवान् कहना चाहिए, पर ऐसा तो नहीं हैं। इन्हीं युक्तियों से सिद्ध होता है कि नग्न रहने वाले और माँगकर खानेवाले का नाम वैराग्यवान् नहीं।

यदि कहो कि विचार-पूर्वक नग्न रहनेवाले का नाम वैराग्यवान् है, यह भी वार्ता शास्त्र-विरुद्ध है, क्योंकि विचार के साथ इस वार्ता का विरोध आता है। जहाँ पर प्रकाश रहता है, वहाँ पर तम नहीं रहता। ये दोनों जैसे परस्पर विरोधी हैं, वैसे सत्त्वगुण का कार्य—सत्य और मिथ्या का विवेचन-रूपी विचार है और तमोगुण का कार्य नग्न रहना है। देखिए—वर्ष के बारहों

महीनों में नग्न रहने वालों के शरीर को कष्ट होता है। सर्दी के मौसम में सर्दी के मारे उनके होश बिगड़ते हैं और उनके हृदय में विचार उत्पन्न भी नहीं हो सकता है एवं गर्मी और बरसात में मच्छर काटते रहते हैं अतः सदैव उनकी वृत्ति दुःखाकार बनी रहती है, विचार का गन्धमात्र भी नहीं रहता है। यहाँ 'श्रुति' से भी विरोध आता है—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥

यदि विद्वान् ने आत्मा को जान लिया कि यह आत्मा ब्रह्म मैं ही हूँ, तब किसकी इच्छा करता हुआ और किस कामना के लिये शरीर को तपायेगा, किन्तु कदापि नहीं तपायेगा। 'गीता' में भी भगवान् ने इसको तामसी तप लिखा है। इसी से विदित होता है कि नग्न रहनेवाले का नाम वैराग्यवान् नहीं है, और नग्न रहने का नाम बैराग्य नहीं है, किंतु केवल मूर्खों को पशु बनाने के लिए नग्न रहना है। सकामी इस तरह के व्यवहार को करता है, निष्कामी नहीं करता हैं। जड़भरतादिकों को अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त याद था।

एक मृगी के बच्चे के साथ स्नेह करने से, उनको मृग के तीन जन्म लेने पड़े थे, इसी लिए वह संगदोष से डरते हुए असंग होकर रहते थे।

जैसा कि पंचदशी में लिखा है—

नह्याहारादि संत्यज्य भरतादिः स्थितः क्वचित् ।
काष्ठपाषाणवत् किन्तु सङ्गभीत्या उदास्यते ॥

जड़भरतादिक भोजन वस्त्रादि को त्याग करके कहीं भी नहीं रहे हैं, किन्तु पत्थर और लकड़ी की तरह जड़ होकर संग से डरते हुए उदासीन हो कर रहे हैं। जब तक देह के साथ आत्मा का तादात्म्य-अध्यास बना है, तब तक तो नग्न रहना दुःख का और मूर्खता का ही कारण है। जब अध्यास नहीं रहेगा, तब इसको नग्न रहने से दुःख भी नहीं होगा। आत्मा के साक्षात्कार होने से, जब मन उस महान् ब्रह्मानंद में डूब जाता है, तब शरीरादिकों के साथ अध्यास नहीं रहता है, और न विशेष करके संसार के पदार्थों का उस पुरुष को ज्ञान रहता है। मदिरा पीनेवाले उन्मत्त को जैसे शरीर की और वस्त्रादिकों की खबर नहीं रहती है, वैसे ही जीवनमुक्त ज्ञानी की वृत्ति केवल आत्माकार रहती है। उसको भी शरीरादिकों की खबर नहीं रहती है ऐसी अवस्था जीवनमुक्त की लिखी हुई है। मुमुक्षु वैराग्यवान् की नहीं लिखी, क्योंकि उसको संसार के पदार्थों का ज्ञान ज्यों का त्यों बना रहता है। संसार के पदार्थों में दोष-दृष्टि और ग्लानि का नाम ही वैराग्य है, और खोटे पुरुषों के संघ से डरकर महात्माओं का संग करनेवाला, क्षमा, कोमलता, दया और सत्यभाषणादि गुणों को अमृतवत् पान करने अर्थात् धारण करनेवाले का नाम वैराग्यवान् है और वही ज्ञान का अधिकारी है॥ २॥

अष्टावक्रजी जनकजी के प्रति वैराग्य के स्वरूप को कहकर राजा के द्वितीय प्रश्न के उत्तर को कहते हैं—

मूलम् ।

न पृथिवी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान् ।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

न, पृथिवी, न, जलम्, न, अग्नि, न, वायुः, द्यौः, न, वा, भवान, एषाम्, साक्षिणम्, आत्मानम्, चिद्रूपम्, विद्धि, मुक्तये ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
भवान्	आप	वा	पर
न पृथिवी	न पृथ्वी है	मुक्तये	मुक्ति के लिये
न जलम्	न जल है	एषाम्	इन सबका
न अग्निः	न अग्नि है	साक्षिणम्	साक्षी
न वायुः	न वायु है	चिद्रूपम्	चैतन्यरूप
न द्यौः	न आकाश है	आत्मानम्	अपने को
		विद्धि	जानिए ।

भावार्थ ।

दूसरा प्रश्न राजा का यह था कि पुरुष आत्म-ज्ञान को कैसे प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञान का स्वरूप क्या है ?

इसके उत्तर में ऋषिजी कहते हैं कि अनादि काल से देहादिकों के साथ जो आत्मा का तादात्म्य-अध्यास हो रहा है, उस अध्यास से ही पुरुष देह को आत्मा मानता है, और इसी से जन्म-मरण-रूपी संसार-चक्र में पुनः-पुनः भ्रमण करता रहता है। उस अध्यास का कारण अज्ञान है। उस अज्ञान की निवृत्ति आत्म-ज्ञान से होती है, और अज्ञान की निवृत्ति से अध्यास की भी निवृत्ति होती है। इसलिए ऋषिजी प्रथम कार्य सहित कारण की निवृत्ति का हेतु जो आत्म ज्ञान है, उसी को बतलाते हैं—

हे राजन् ! तुम पृथिवी नहीं हो, और न तुम जल-रूप हो, न अग्नि-रूप हो, न वायु-रूप हो और न आकाश-रूप हो। अर्थात् इन पाँचों तत्त्वों में से कोई भी तत्त्व तुम्हारा स्वरूप नहीं

है और पाँचों तत्त्वों का समुदाय-रूप इन्द्रियों का विषय जो यह स्थूल शरीर है, वह भी तुम नहीं हो, क्योंकि शरीर क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होता जाता है। जो बाल-अवस्था का शरीर होता है, वह कुमार अवस्था में नहीं रहता है। कुमार अवस्था-वाला शरीर युवा अवस्था में नहीं रहता। युवा अवस्थावाला शरीर वृद्धअवस्था में नहीं रहता। परन्तु आत्मा, सब अवस्थाओं में एक ही, ज्यों की त्यों रहती है, इसी लिए युवा और वृद्धा-वस्था में प्रत्यभिज्ञाज्ञान भी होता है। अर्थात् पुरुष कहता है कि मैंने बाल्यावस्था में माता और पिता का अनुभव किया। कुमारावस्था में खेलता रहा युवा अवस्था में स्त्री के साथ भोग किया। अब देखिये—सारी अवस्थाएँ परिवर्तित हो जाती हैं, पर अव-स्था का अनुभव करनेवाली आत्मा नहीं बदलती हैं, किन्तु एक-रस ज्यों का त्यों हा रहता है।

यदि अवस्था के साथ आत्मा भी बदलता जाती, तो प्रत्यभिज्ञाज्ञान कदापि न होता। क्योंकि ऐसा नियम है कि जो अनुभव का कर्ता होता है, वही स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का भी कर्ता होता है। दूसरे के देखे हुए पदार्थों का स्मरण दूसरे को नहीं होता है। इसा से सिद्ध होता है कि आत्मा देहादिकों से भिन्न है, और देहादिकों का साक्षी है। जो देहादिकों से भिन्न है, और देहादिकों का साक्षी भी है, हे राजन् ! इसी चिद्रूप को तुम अपना आत्मा जानो।

जैसे घरवाला पुरुष कहता है—मेरा घर है, पलँग है और मेरा बिस्तर है और वह पुरुष घर और पलँग आदि से जैसे पृथक् है, वैसे पुरुष कहता है—यह मेरा शरीर है, ये मेरी इन्द्रियाँ

हैं। जो शरीर और इन्द्रियों का अनुभव करनेवाली आत्मा है, वह शरीर इन्द्रियादि से सर्वथा भिन्न है वह साक्षी रूप है।

श्रुति कहती है—

अयमात्मा ब्रह्म।

जो यह प्रत्यक्ष तुम्हारा आत्मा है यही ब्रह्म है, यही ईश्वर है।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक! पृथिवी आदि पाँच भूत और उनका कार्य स्थूल शरीर, तथा इन्द्रिय और उनके विषय शब्दादि, इनसबसे तू न्यारा है, और सबका तू साक्षी है, ऐसे निश्चय का नाम ही आत्म ज्ञान है॥ ३॥

आत्मज्ञान के स्वरूप को अष्टावक्रजी जनकजी के प्रति कहकर अब मुक्ति के स्वरूप तथा उपाय को बतलाते हैं।

मूलम्।

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि॥ ४॥

पदच्छेदः।

यदि, देहम्, पृथक्कृत्य, चिति, विश्राम्य, तिष्ठसि, अधुना, एव, सुखी, शान्तः, बन्धमुक्तः, भविष्यसि॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
यदि	अगर
+त्वम्	तुम
देहम्	देह को
पृथक्कृत्य	अलग करके
+च	और
चिति	चैतन्य आत्मा में
विश्राम्य	विश्राम करके अर्थात् चित्त को एकाग्र करके
तिष्ठसि	स्थित है, तो
अधुना एव	अभी ही
+त्वम्	तुम
सुखी	सुखी
+च	और
शान्तः	शान्त होते हुए
बन्धमुक्तः	बन्ध से मुक्त
भविष्यसि	हो जाओगे।

भावार्थ ।

हे राजन् ! जब तुम देह से आत्मा को पृथक् विचार करके और अपनी आत्मा में चित्त को स्थिर करके स्थिर हो जायगा, तब तुम सुख और शान्ति को प्राप्त करोगे । जब तक चिद्जड़-ग्रन्थि का नाश नहीं होता है अर्थात् परस्पर के अध्यास का नाश नहीं होता है, तब तक ही जीव बन्धन में है । जिस काल में अध्यास का नाश हो जाता है उसी काल में जीव मुक्त हो जाता है । **शिवगीता** में भी इसी वार्ता को कहा गया है—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ॥

मोक्ष का किसी लोकांतर में निवास नहीं है, और न किसी गृह या ग्राम के भीतर मोक्ष का निवास है, किंतु चिद्जड़ग्रन्थि का नाश ही मोक्ष है अर्थात् जड़चेतन का जो परस्पर अध्यास है, उस अध्यास से जो जड़ अंतःकरण के कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म हैं, वे आत्मा में प्रतीत होते हैं एवं आत्मा के जो चेतनता आदि धर्म हैं, वे भी अग्नि में तपाए हुए लोहपिंड की तरह अन्तःकरण में प्रतीत होने लगते हैं । जब लोहे का पिंड अग्नि में तपाया हुआ लाल हो जाता है और हाथ लगाने से वह हाथ को जला देता है, तब लोग ऐसा कहते हैं—देखो, यह अग्नि कैसा गोलाकार है, लोहा कैसा जलता है। परन्तु जलना धर्म लोहे का नहीं है और गोलाकार धर्म अग्नि का नहीं है, किंतु परस्पर दोनों का तादात्म्य-अध्यास होने से अग्नि का जलाना रूप धर्म लोहे में आ जाता है और लोहे का गोलाकार धर्म अग्नि में चला

जाता है वैसे ही अन्तःकरण के साथ आत्मा का तादात्म्य अध्यास होने से जब आत्मा के चेतन आदि धर्म अन्तःकरण में आ जाते हैं, और अन्तःकरण के कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म आत्मा में चले जाते हैं, तब पुरुष अपनी आत्मा को कर्त्ता और भोक्ता मानने लग जाता है और उसी से जन्म-मरण-रूपी बंधन को प्राप्त होता है। जब आत्म-ज्ञान से अपने को अकर्त्ता, अभोक्ता, शुद्ध और असंग मानता है और कर्तृत्वादि को अन्तःकरण का धर्म मानता है, तब स्वयं साक्षी होकर अन्तःकरण का भी प्रकाशक होता है, और तब ही अध्यास का नाश हो जाता है। अध्यास के नाश का नाम ही मुक्ति है। इसके अतिरिक्त मुक्ति कोई वस्तु नहीं है ॥ ४ ॥

जनकजी कहते हैं कि हे भगवन् ! नैयायिक आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता और सुख दुःखादि धर्मोंवाला मानते हैं एवं पुरुष भी कहता है—मैं कर्ता हूँ अर्थात् यज्ञादि कर्मों का कर्ता और उनके फलों का भोक्ता भी अपने को मानता है। तब फिर यह जीवात्मा अकर्त्ता और अभोक्ता होकर मुक्त कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर को अष्टावक्रजी कहते हैं—

मूलम्

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः ।
असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

न, त्वम्, विप्रादिकः, वर्णः, न, आश्रमी, न, अक्षगोचरः, असंगः, असि, निराकारः, विश्वसाक्षी, सुखी, भव ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
त्वम्-	तुम	अक्षगोचरः-	आँख आदि इंद्रियों का विषय है
विप्रादिकः-	ब्राह्मण आदि	+परन्तु-	परंतु
वर्ण-	जाति	+त्वम्-	तुम
न-	नहीं है	असंगः-	असंग (एवं)
च-	और	निराकारः-	निराकार
न-	न	विश्वसाक्षी-	विश्व का साक्षी
आश्रमी-	चारों आश्रमवाला है	असि-	है
च-	और	इति मत्वा-	ऐसा जान करके
न-	न	सुखी-	सुखी
		भव-	हो

भावार्थ ।

निराकार सच्चिदानन्द-रूप एक ही निर्गुण आत्मा सर्वत्र व्यापक है जैसे एक ही आकाश सर्वत्र व्यापक है । परन्तु घट पट आदि उपाधियों के भेद करके घटाकाश, पटाकाश ऐसा व्यवहार होता है और उपाधियों के भेद करके आकाश का भी भेद प्रतीत होता है, वास्तव में आकाश का भेद नहीं है । वैसे एक ही व्यापक आत्मा का अंतःकरण रूपा उपाधियों के भेद से भेद प्रतीत होता है, वास्तव में आत्मा का भेद नहीं है । जैसे अनेक घटों में आकाश एक ही है, परन्तु किसी घट में धूलि भरी है और किसी में धूम भरा है, और किसी में नील पीतादि वर्णोंवाले पदार्थ भरे हैं, उन धूलि आदि के साथ यद्यपि कोई आकाश का वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, तथापि धूलि आदि वाला प्रतीत होता है, वैसे आत्मा का भी अन्तःकरण और उसके धर्मों के साथ कोई वास्तविक

सम्बन्ध नहीं है, तथापि परस्पर के अध्यास से वह सुख दुःखादि धर्मोंवाला प्रतीत होता है। वस्तुतः आत्मा में सुख दुःखादि तीनों काल में भी नहीं है।

इसी वार्ता को अष्टावक्रजी जनकजी के प्रति कहते हैं कि हे जनक! तुम ब्राह्मण आदि जातियोंवाले नहीं हो, और न तुम वर्णाश्रम आदि धर्मोंवाले हो और न तुम किसी चक्षुआदि इन्द्रिय का विषय हो किन्तु तुम इन सबके साक्षी और असंग हो एवं तुम आकार से रहित हो और संपूर्ण विश्व के साक्षी हो—ऐसा अपने को जान करके सुखी हो अर्थात् संसाररूपी ताप से रहित हो ॥ ५ ॥

जनक जी कहते हैं कि हे भगवन्! वेद ने जो वर्णाश्रमों के धर्म करने का विधान किया है, उनके त्याग करने से भी पुरुष पातकी होता है, और बिना अपने को कर्ता माने वे धर्म हो नहीं सकते हैं, अतएव यह "उभयतः पाशा रज्जु"—न्याय का प्रसंग कैसे दूर हो?

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे राजन्! वेद ने जितने वर्णाश्रमादि के धर्म कहे हैं, वे सब अज्ञानी मूर्ख के लिये कहे हैं, वे ज्ञानी और मुमुक्षु के लिये नहीं हैं—

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥

जो आत्म-ज्ञान-रूपी अमृत से तृप्त है और जो आत्मज्ञान से कृतकृत्य हो चुका है, उसको कुछ भी करने योग्य कर्म बाकी नहीं है। यदि वह अपने को कर्म करने-योग्य माने, तो वह आत्मवित् नहीं है। ऐसे ही अनेक वाक्य ज्ञानी के लिये कर्त्त-

व्यता के अभाव का कथन करते हैं । गीता में जिज्ञासु के प्रति कर्मों का निषेध कहा है—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ।

भगवान् कहते हैं कि आत्म-ज्ञान का जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म वेद की आज्ञा का उल्लंघन करके स्थित रहता है। अर्थात् जिज्ञासु के ऊपर भी कर्मकांड वेद-भाग की आज्ञा अज्ञानी और सकामी मूर्ख के ऊपर है। अतएव हे जनक ! यदि आप जिज्ञासु है तब भी आपके ऊपर वर्णाश्रमों के धर्मों के करने की वेद की आज्ञा नहीं है। यदि आप लोकाचार के लिये करना चाहते हैं; तब उनको आत्मा से पृथक्, अन्तःकरण का धर्म मान करके करना चाहिए ।

मूलम् ।

धर्माऽधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो ।
न कर्त्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

धर्माऽधर्मौ, सुखम्, दुःखम्, मानसानि, न, ते, विभो, न, कर्त्ता, असि, न, भोक्ता, असि, मुक्तः, एव, असि, सर्वदा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
विभो	हे व्यापक !
मानसानि	मन सम्बन्धी
धर्माऽधर्मौ	धर्म और अधर्म
सुखम्	सुख
+च	और
दुःखम्	दुःख
ते	तेरे लिये
न	नहीं है
+च	और
न	न
+त्वम्	तुम
कर्त्ता	कर्त्ता

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
असि=हो		सर्वदा=सदा	
+च=और		त्वम्=तुम	
न=न		मुक्तः=मुक्त	
त्वम्=तुम		एव=ही	
भोक्ता=भोक्ता		असि=हो।	
असि=हो (किन्तु)			

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे राजन्! धर्म और अधर्म, सुख और दुःखादि ये सब मन के धर्म हैं, व्यापक आत्मा के नहीं। अर्थात् तेरा स्वरूप व्यापक है, उसके ये सब धर्म नहीं हैं, किन्तु परिच्छिन्न मन के सब धर्म हैं अतएव न आप कर्ता है और न भोक्ता है, किन्तु आप सर्वदा मुक्त-स्वरूप है ॥ ६ ॥

फिर उसी वार्ता को दृढ़ करने के वास्ते अष्टावक्रजी कहते हैं—

मूलम्।

एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः।

एकः, द्रष्टा, असि, सर्वस्य, मुक्तप्रायः, असि, सर्वदा, अयम्, एव, हि, ते, बन्धः, द्रष्टारम्, पश्यसि, इतरम् ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
सर्वस्य=सबका		असि=हो	
एकः=एक		+च=और	
द्रष्टा=देखनेवाला		एव=ही	

ते=तेरा	अयम्=यह
बन्धः=बन्धन है	+त्वम्=तुम
हि=जो	इतरम्=दूसरे को
सर्वदा=निरंतर	द्रष्टारम्=द्रष्टा
मुक्तप्रायः=अत्यन्त मुक्त	पश्यसि=देखते हो।
असि=हो	

भावार्थ।

हे राजन्! आप ही एक सच्चिदानन्द और परिपूर्णरूप से सबका द्रष्टा है और सर्वदा मुक्त-स्वरूप है। आप में तीनों काल बंध नहीं है। जैसे सूर्य में तीनों काल में तम नहीं है, वैसे आप ही स्वयंप्रकाश और समस्त जगत् के द्रष्टा है। और जो आप अपने को द्रष्टा न जानकर अपने से भिन्न किसी को द्रष्टा मानते हैं, यहा आप में बन्ध है॥ ७॥

जनकजी कहते हैं कि हे भगवन्! सारे संसार में सब लोग अपने से भिन्न कर्मों का साक्षी और द्रष्टा मानते हैं और अपने को कर्मों का कर्त्ता मानते हैं, तब फिर वे सब ऐसा क्यों मानते हैं? और अपने से भिन्न द्रष्टा और कर्मों के फल के प्रदाता को क्यों मानते हैं?

उत्तर–अष्टावक्रजी कहते हैं कि जो संसार में अज्ञानी मूर्ख हैं वे अपने से भिन्न द्रष्टा को और कर्मों के फलप्रदाता को मानते हैं और अपने कर्मों का कर्त्ता और फल का भोक्ता मानते हैं, ज्ञानवान् ऐसा नहीं मानते हैं?

मूलम्।

अहं कर्त्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥ ८॥

पदच्छेदः ।

अहम्, कर्त्ता, इति, अहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः, न, अहम्, कर्त्ता, इति, विश्वासामृतं, पीत्वा, सुखी, भव ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्	मैं
कर्त्ता	करता हूँ
इति	ऐसे
अहंमान-महाकृष्णा-हिदंशितः	अहंकार-रूपी अत्यंत कृष्ण वर्णवाले सर्प से दंशित हुआ तुम
अहम्	मैं
न कर्त्ता	नहीं कर्त्ता हूँ ।
इति	ऐसे
विश्वासामृतम्	विश्वासरूपी अमृत को
पीत्वा	पी करके
सुखी	सुखी
भव	हो

भावार्थ ।

हे जनक ! "अहं कर्त्ता" मैं इस कर्म का कर्त्ता हूँ, एवं मैं इसके फल को भोगूँगा, यह जो अहंकार-रूपी काला सर्प है, इसी से डसा हुआ, सारा संसार जन्म-मरण-रूपी चक्र में पड़कर भटकता रहता है और तुम भी इस अहंकार-रूपी सर्प से डसे हुए, अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानते हो । उस अहंकार-रूपी सर्प के विष के उतारने के लिए "नाहं कर्त्ता" मैं कर्त्ता नहीं हूँ, जब ऐसे निश्चयरूपी अमृत को तुम पान करोगे, तब तुम सुखी होवेगे । अन्यथा किसी प्रकार से भी तुम सुखी नहीं हो सकते ॥ ८ ॥

जनकजी कहते हैं कि पूर्वोक्त अमृत को मैं कैसे पान करूँ ? इसके उत्तर को कहते हैं—

मूलम् ।

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना ।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव ॥ ९ ॥

पदच्छेदः ।

एकः, विशुद्धबोधः, अहम्, इति, निश्चयवह्निना, प्रज्वाल्य, अज्ञानगहनम्, वीतशोकः, सुखी, भव ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्	मैं
एकः	एक
विशुद्धबोधः	अति शुद्ध बुद्ध-रूप हूँ
इति	ऐसे
निश्चय-वह्निना	निश्चय रूपी अग्नि से
अज्ञान-गहनम्	अज्ञानीरूपी-वन को
प्रज्वाल्य	जला करके
वीतशोकः	शोक रहित हुआ
+त्वम्	तुम
सुखी	सुखी
भव	हो

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! तुम इस प्रकार के निश्चयरूपी अमृत को पी करके सुखी हो जाओ कि मैं एक हूँ अर्थात् सजातीय-विजातीय तथा स्व-गत भेद से रहित हूँ। क्योंकि एक वृक्ष का जो वृक्षांतर से भेद है, वह सजातीय भेद कहा जाता है, और वृक्ष का जो घटादिकों से भेद है, उसका नाम विजातीय भेद है और वृक्ष का जो अपने शाखादिकों से भेद है, वह स्व-गत भेद कहा जाता है।

यह आत्मा तो ऐसा नहीं है, क्योंकि एक ही आत्मा सारे जगत् में व्याप्त है। वह पारमार्थिक सत्तावाला है और नित्य है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा ऐसा नहीं है, इस वास्ते आत्मा में सजातीय भेद रहता है, और आत्मा से भिन्न कोई भी पदार्थ पार-

मार्थिक सत्तावाला नहीं है, अतएव आत्मा से भिन्न सब मिथ्या है, क्योंकि कहा गया है—

ब्रह्मभिन्नम्, सर्वं मिथ्या, ब्रह्मभिन्नत्वात् ।

ब्रह्म से भिन्न सारा जगत् ब्रह्म से पृथक् होने के कारण शुक्ति में रजत की तरह मिथ्या है, इस अनुमान-प्रमाण से जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध होता है और इसी से आत्मा में विजातीय-भेद भी नहीं है। आत्मा निश्चय है, इस वास्ते उसमें स्व-गत भेद भी नहीं है क्योंकि स्व-गत भेद सावयव पदार्थों में होता है। आत्मा देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है, क्योंकि देश, काल और वस्तु का परिच्छेद परिच्छिन्न पदार्थ में ही रहता है, व्यापक में नहीं रहता है।

जो वस्तु किसी काल में हो और किसी काल में न हो, वह वस्तु काल-परिच्छेदवाली कहलाती है, ऐसे घटपटादि पदार्थ ही हैं, आत्मा तो तीनों कालों में एक-सा ज्यों का त्यों बना रहता है, इस वास्ते काल-परिच्छेद से आत्मा रहित है।

जो वस्तु एक देश में हो और दूसरे देश में न हो, वह देश-परिच्छेदवाली कहलाती है, ऐसे घटपटादि पदार्थ ही हैं, आत्मा तो सब देश में है, इस वास्ते वह देश परिच्छेद से भी रहित है।

जो एक वस्तु दूसरी वस्तु में न रहे, वह वस्तु परिच्छेद कहलाता है, जैसे घट, पट में नहीं रहता है और पट, घट में नहीं रहता है, परन्तु आत्मा सब वस्तुओं में ज्यों का त्यों एक-रस रहता है, इस वास्ते वह वस्तु परिच्छेद से भी रहित है।

हे जनक ! जो देश, काल और वस्तु-परिच्छेद से रहित, नित्य और व्यापक है, वह एक ही सिद्ध होता है, और वही तेरा आत्मा है। अतएव हे राजन् ! तुम ऐसा निश्चय कर लो कि मैं ही सर्वज्ञ व्यापक हूँ और सजातीय-विजातीय स्व-गत भेद से रहित हूँ, और विशेष करके शुद्ध हूँ अर्थात् अविद्या आदि मल मेरे में नहीं है। जब तुम ऐसे निश्चय-रूपी अग्नि को प्रज्वलित करके अज्ञान-रूपी वन को भस्म कर दोगे, तो फिर जन्म-मरण-रूपी शोक से रहित होकर परमानन्द को प्राप्त हो जावोगे ॥ ९ ॥

जनकजी कहते हैं कि हे महाराज ! पूर्वोक्त निश्चय करने से भी तो जगत् सत्य ही दिखाई पड़ता है, इसकी निवृत्ति अर्थात् अभाव स्वरूप से कदापि नहीं होती है, और जब तक इसका अभाव न हो, तब तक शोक से रहित होना कठिन है।

मूलम् ।

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत् ।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं चर ॥ १० ॥

पदच्छेदः ।

यत्र, विश्वम्, इदम्, भाति, कल्पितम्, रज्जुसर्पवत्, आनन्दपरमानन्दः, सः, बोधः, त्वम्, सुखम्, चर ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यत्र	जिसमें	विश्वम्	संसार
इदम्	यह	रज्जुसर्पवत्	रज्जु में सर्प के सदृश
कल्पितम्	कल्पित	भाति	भासित होता है

सः=वही
आनन्द-परमानन्दः=आनन्दपरमानन्द
बोधः=बोधरूप
त्वम्=तुम
सुखम्=सुख-पूर्वक
चर=विचरण करो।

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे राजन्! जिस ब्रह्म-आत्मा में यह जगत् रज्जु में सर्प की तरह कल्पित प्रतीत होता है, वह आत्मा आनन्द-स्वरूप है। जैसे रज्जु के अज्ञान से मंद अंधकार में रज्जु ही सर्प-रूप प्रतीत होता है, या रज्जु में सर्प प्रतीत होता है। वास्तव में न तो रज्जु सर्प-रूप है और न रज्जु में सर्प है। और न रज्जु में सर्प पूर्व था और न आगे होवेगा और न वर्तमान काल में है, किन्तु रज्जु के अज्ञान से और मन्द अन्धकार आदि सहकारी कारणों द्वारा पुरुष को भ्रान्ति से रज्जु में सर्प प्रतीत होता है, और उसी मिथ्या-सर्प को देख करके पुरुष भागता, गिर पड़ता और डरता है। जब कोई रज्जु का ज्ञाता उससे कहता है कि यह सर्प नहीं है, किन्तु रज्जु है, इसको तू क्यों डरता है तब उसके भ्रम और भय आदि सब दूर हो जाते हैं। वैसे ही आत्मा के स्वरूप के अज्ञान से पुरुष को जगत् भासता है, एवं जन्म-मरण के भय आदि भी भासते हैं। जब ब्रह्म-वित् गुरु उपदेश करता है कि तू ही ब्रह्म है, तेरे को अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण यह जगत् प्रतीत हो रहा है और वास्तव में यह जगत् मिथ्या है एवं तीनों कालों में तेरे लिए नहीं है। जैसे निद्रा-रूपी दोष से मनुष्य स्वप्न में अनेक प्रकार के सिंह-व्याघ्रादिकों को रचता है, और आप ही

उनसे भय को प्राप्त होता है । जब निद्रा दूर हो जाती है, तब उन कल्पित सिंहादिकों का भी नाश हो जाता है, वैसे ही हे जनक ! तेरे ही अज्ञान से यह संपूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, और जब तुम अपने स्वरूप को यथार्थ रूप से जान लोगे, तब जगत् का भी अभाव हो जाएगा ।

प्रश्न—हे भगवन् ! यदि आत्म-ज्ञान से अज्ञान और अज्ञान के कार्य-रूप जगत् का नाश हो जाता, तब तो अब तक जगत् न बना रहता, क्योंकि बहुत ज्ञानवान् हो चुके हैं, उनमें से एक के ज्ञान के कारण के सहित कार्य-रूपी जगत् का यदि नाश हो जाता, तब तो फिर अस्मदादि सब जीव और वृक्षादि सृष्टि भी न होती, परन्तु ऐसा तो नहीं देखते हैं, किन्तु जगत् ज्यों का त्यों ही बना है, तब फिर आप कैसे कहते हैं कि अज्ञान के नाश से जगत् का नाश हो जाता है ?

उत्तर—अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे राजन् ! जैसे जल की इच्छा करके पुरुष मरु-मरीचिका के जल को देखकर उसके पास जाने का उद्योग करता है, परन्तु जब आगे उसको जल नहीं मिलता है, तब किसी के बताने से जान लेता है कि यह भ्रम से जो जल मुझे दिखाई देता था, वह जल नहीं है, तब आकर वृक्ष के नीचे बैठ जाता है, और फिर जब उधर को देखता है, तब फिर जल पहले की तरह दिखाई पड़ता है, परन्तु जल की इच्छा करके फिर उस तरफ नहीं दौड़ता है, और न दुःखी होता है, वैसे ही जिसको आत्म-ज्ञान हुआ है, और जिसने जान लिया है कि जगत् मिथ्या है और भ्रम से प्रतीत होता है, वह फिर दुःखी नहीं होता है, और

न उसमें उसकी आसक्ति होती हैं, किन्तु यावत् जगत् है, उन सबको मिथ्या जानता है। उस मिथ्यात्व के निश्चय का नाम ही जगत् का नाश है। यद्यपि स्वरूप से इसका कदापि नाश नहीं होता है, किन्तु यह अथाह-रूप से सदा बना ही रहता है, हे जनक ! जिसने अपने आत्मा को सत्, चित् और आनन्द-रूप जान लिया है, वह फिर जन्म-मरण-रूपी बन्ध को नहीं प्राप्त होता है। हे जनक ! तुम अपने को ही आनन्दरूप और परमानन्द बोध-स्वरूप अर्थात् ज्ञान-स्वरूप जानो और सुख से विचरण करो।

प्रश्न—हे भगवन् ! अज्ञान एक है या अनेक हैं ?

उत्तर—अज्ञान एक है।

प्रश्न—जब अज्ञान एक है, तब एक अज्ञान के नाश होने से उसके कार्य जगत् का भी स्वरूप से ही नाश हो जाना चाहिए ?

उत्तर—यद्यपि अज्ञान एक ही है, तथापि उसके कार्य तन्मात्रा, और तन्मात्रा का कार्य अन्तःकरण-रूपी भाग अनन्त हैं। जैसे आकाश एक है, पर अनेक घट-रूपी उपाधियों के साथ वह अनेक भेद को प्राप्त हो रहा है। और जब घट-रूपी उपाधि नष्ट हो जाती है, तब वही घटाकाश महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही जिस अन्तःकरण में ज्ञानरूपी प्रकाश उदय होता है, वही अन्तःकरण नाश को प्राप्त हो जाता है, और वही जीव, जो अब तक बन्धन में था, मुक्त हो जाता है, बाकी सब बन्ध में पड़े रहते हैं।

जैसे सोये हुए दस पुरुष अपने-अपने स्वप्नों को देखते हैं, और जिसकी निद्रा दूर हो जाती है उसी का स्वप्न नष्ट

हो जाता है; और लोग अपने-अपने स्वप्नों को देखते ही रहते हैं। अतएव हे राजन् ! अब तुम अज्ञान-रूपी निद्रा से जागो और अपने ज्ञान-स्वरूप को प्राप्त होकर सुख-पूर्वक संसार में विचरण करो ॥ १० ॥

प्रश्न—जब सारा जगत्, रज्जु में सर्प की तरह कल्पित है, और मिथ्या है, तब फिर बन्ध और मोक्ष पुरुष को कैसे हो सकते हैं ?

मूलम् ।

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि ।
किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥ ११ ॥

पदच्छेदः ।

मुक्ताभिमानी, मुक्तः, हि, बद्धः, बद्धाभिमानी, अपि, किंवदन्ती, इह, सत्या, इयम्, या, मतिः, सा गतिः, भवेत् ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मुक्ताभिमानी	मुक्ति का अभिमानी
मुक्तः	मुक्त है
बद्धाभिमानी	बद्ध का अभिमानी
बद्धः	बद्ध है
हि	क्योंकि
इह	इस संसार में
इयम्	यह
किंवदन्ती	लोक-वाद
सत्या	सत्य है कि
या	जैसी
मतिः	मति है
सा	वैसी ही
गतिः	गति
भवेत्	होती है

भावार्थ ।

हे जनक ! बन्ध का कारण अभिमान है—
ब्राह्मणोऽहम्, क्षत्रियोऽहम्, वैश्योऽहम्, शूद्रोऽहम् ।

अर्थात् मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, जैसा-जैसा जिसको अभिमान होता है, वैसे-वैसे वह कर्मों का करके, उनके फलों का भोग करता है और एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त होता है, और वही बन्धायमान कहा जाता है। और जिसको ऐसा अनुभव है—

नाहं ब्राह्मणः, न क्षत्रियः।

अर्थात् न मैं ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय हूँ, न वैश्य हूँ, न शूद्र हूँ, किन्तु—

शुद्धोऽहम्, निरञ्जनोऽहम्, निराकारोऽहम्, निर्विकल्पोऽहम्।

अर्थात् मैं शुद्ध हूँ, माया-मल से रहित हूँ, आकार से भी रहित हूँ, विकल्प से भी रहित हूँ और नित्य मुक्त हूँ।

बंध और मोक्ष ये सब मन के धर्म हैं। मुझमें ये सब तीनों काल में नहीं हैं, किन्तु मैं सबका साक्षी हूँ, ऐसे अभिमानवाला पुरुष नित्य-मुक्त है। इसी वार्त्ता को अन्यत्र भी कहा है—

देहाभिमानाद्यत्पापं न तद्गोवधकोटिभिः।
प्रायश्चित्ताद्भवेच्छुद्धिर्नृणां गोवधकारिणाम्॥

अर्थात् जो देह के अभिमान से पुरुषों को पाप होता है, वह पाप करोड़ों गौओं का वध करने से भी नहीं होता है, क्योंकि करोड़ों गौओं का वध करनेवाले की शुद्धि के लिए शास्त्र में प्रायश्चित्त लिखा है, अर्थात् प्रायश्चित्त करके करोड़ों गौओं का वध करनेवाला भी शुद्ध हो सकता है, परन्तु देहाभिमानी की शुद्धि के लिए शास्त्र में कोई भी प्रायश्चित्त नहीं लिखा है, इसी वास्ते जाति, वर्ण आदि जो देह के धर्म हैं, उन धर्मों को जो आत्मा में मानते

हैं, वे ही देहाभिमानी कहे जाते हैं, और वे ही सदा बन्धायमान रहते हैं। और जो जाति और वर्णों के धर्मों को आत्मा में नहीं मानते हैं, किन्तु अपने आत्मा को असंग, नित्य-मुक्त और शुद्ध मानते हैं, वे नित्य ही मुक्त हैं, क्योंकि हे राजन् ! शास्त्रों में दो दृष्टि कही गई हैं—एक तो शास्त्र दृष्टि, दूसरी लौकिक दृष्टि। शास्त्र-दृष्टि से तो देहादि के चर्म के अभिमानी का नाम ही चमार है, क्योंकि अपने को चर्म का अभिमानी मानता है—

"देहोऽहम्"

और जो चर्म के अभिमान से रहित है, वही अपने को देहादि से भिन्न, नित्य शुद्ध और बुद्ध मानता है, वही मुक्त है।

यहाँ लोग कहते भी हैं कि जैसी जिसकी मति अर्थात् जैसा बुद्धि अन्तकाल में होती है, वैसी ही उसकी गति होती है। अर्थात् जैसा जिसका निश्चय होता है, वैसा ही उसको फल प्राप्त होता है। अतएव हे राजन् ! तुम भी अपने को शुद्ध, बुद्ध और मुक्त-रूप मानो ॥ ११ ॥

जनकजी कहते हैं कि हे भगवन् ! जीवात्मा को जो बन्ध और मोक्ष हैं, वे दोनों वास्तव में हैं या अवास्तविक हैं? यदि बन्ध वास्तव में हों, तब तो उसकी निवृत्ति कदापि न होनी चाहिए ? यदि मोक्ष ही वास्तविक हो, तो जीव को बन्ध कदापि नहीं होना चाहिए ?

इस शंका के उत्तर को आगेवाले वाक्य से अष्टावक्रजी बतलाते हैं—

मूलम् ।

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः ।
असङ्गो निःस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव ॥ १२ ॥

पदच्छेदः ।

आत्मा, साक्षी, विभुः, पूर्णः, एकः, मुक्तः, चित्, अक्रियः, असंगः, निस्पृहः, शान्तः, भ्रमात्, संसारवान्, इव ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
आत्मा	आत्मा
साक्षी	साक्षी है
विभुः	व्यापक है
पूर्णः	पूर्ण है
एकः	एक है
मुक्तः	मुक्त है
चित्	चैतन्य-रूप है
अक्रियः	क्रिया-रहित है
असंगः	संग-रहित है
निःस्पृहः	इच्छा-रहित है
शान्तः	शान्त है
भ्रमात्	भ्रम के कारण
संसारवान्	संसारवाला
इव	भासता है

भावार्थ ।

हे जनक! बन्ध और मोक्ष दोनों अवास्तविक है और केवल अपने स्वरूप की अज्ञानता से देहादिकों में अभिमान करके, जीव अपने को बन्धायमान करके, मुक्त होने की इच्छा करता है। वास्तव में न उसमें बन्ध है और न मोक्ष है। जीव-आत्मा है, एक है, पूर्ण है, मुक्त है, असंग है, निःस्पृह है और शान्त है। भ्रम से संसारवाला भान होता है। वास्तव में, उसमें संसार तीनों कालों में नहीं है, इसमें एक दृष्टान्त कहते हैं—

एक पुरुष का नाम बेवकूफ था और उसकी स्त्री का नाम फजीती था। एक दिन उसकी स्त्री उसके साथ लड़ाई झगड़ा करके कहीं चली गई। तदनंतर वह स्त्री को खोजने के लिए जंगल में गया। वहाँ पर एक तपस्वी उसको मिला जिसने उससे पूछा कि तू जंगल में क्यों घूमता है ? उसने कहा कि मैं अपनी स्त्री को खोजता हूँ। तब उस तपस्वी ने कहा कि तुम्हारी स्त्री का क्या नाम है ? और तुम्हारा क्या नाम है ? तब उसने कहा कि मेरा नाम बेवकूफ है, और मेरी स्त्री का नाम फजीती है। तब उसने कहा "बेवकूफ" को फजीतियों की क्या कमती है ? जहाँ पर जावेगा, वहाँ पर उस बेवकूफ को फजीती मिल जावेगी।

दृष्टांत में जब तक जीव अज्ञानी मूर्ख बना है, तब तक इसको जन्म-मरण-रूपी फजीतियों की क्या कमती है। जब ज्ञानवान् होगा तब बंध से रहित हो जाएगा।

जनकजी कहते हैं कि हे भगवन् ! नैयायिक लोग आत्मा का वास्तविक बंध–मोक्ष मानते हैं, उनका मानना ठीक है या नहीं ?

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे राजन् ! नैयायिकों का कथन सर्व-युक्ति और वेद से विरुद्ध है। यदि आत्मा को वास्तविक बंध होता; तब उसकी निवृत्ति कदापि न होता, और साधन भी सब व्यर्थ हो जाते, पर ऐसा तो नहीं है, क्योंकि वेद उसकी निवृत्ति को लिखता है और आत्मा वास्तव में संसारी नहीं है। इसी में 'दस हेतुओं को दिखाते हैं—

(१) अहंकार आदि का भी आत्मा साक्षी है, पर कर्ता नहीं है।

(२) आत्मा विभु अर्थात् सर्व का अधिष्ठान है ।

(३) आत्मा एक है अर्थात् सजातीय और विजातीय स्वगत-भेद से रहित है ।

(४) आत्मा मुक्त है अर्थात् माया और माया के कार्य देहादि से भी रहित है ।

(५) आत्मा चित् है अर्थात् चैतन्य-स्वरूप है ।

(६) आत्मा अक्रिय है अर्थात् चेष्टा से रहित है, क्योंकि परिच्छिन्न में चेष्टा अर्थात् क्रिया होती है, व्यापक में नहीं होती है ।

(७) आत्मा असंग है अर्थात् सम्पूर्ण सम्बन्धों से रहित है ।

(८) आत्मा निःस्पृह है अर्थात् विषयों की अभिलाषा से भी रहित है ।

(९) आत्मा शान्त है अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति देहादि अन्तःकरण के धर्मों से रहित है ।

(१०) आत्मा केवल भ्रम के कारण संसारवाला भासित होता है । इन दस हेतुओं से आत्मा वास्तव में संसारी नहीं हो सकता है ।

"असंगो ह्ययं पुरुषः" ।

यह आत्मा असंग है ।

"न जायते म्रियते वा कदाचित्" ।

अर्थात् आत्मा वास्तव में न जन्म लेता है, न मरता है— यह गीता-वाक्य और अनेक श्रुति-वाक्य भा आत्मा की असंगता में प्रमाण हैं । इसी से नैयायिक आदि मिथ्यावादी सिद्ध होते हैं ।। १२ ।।

मैं परिच्छिन्न हूँ, मेरे ये देहादि हैं, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इस तरह के जो अन्तःकरण के धर्मों के अध्यास से आत्मा में जीवों ने मान रक्खा है, उस अध्यास-रूपी भ्रम की निवृत्ति तो एक बार असंग आत्मा के उपदेश करने से नहीं होती है। इसी पर व्यास भगवान् ने सूत्र कहा है—

"आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।"

ज्ञान की स्थिति के लिये श्रवण-मनन आदि की आवृत्ति पुनः-पुनः करे, क्योंकि उद्दालक ने अपने पुत्र के प्रति, नव बार 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश किया है, बारंबार-श्रवणादिकों के करने से चित्त की वृत्ति विजातीय भावना का त्याग, सजातीय भावनावाली होकर आत्माकार हो जाती है, इसी वास्ते जनकजी को पुनः पुनः आत्मज्ञान का उपदेश अष्टावक्रजी करते हैं—

मूलम् ।

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय ।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम् ॥ १३ ॥

पदच्छेदः ।

कूटस्थम्, बोधम्, अद्वैतम्, आत्मानम्, परिभावय, आभासः, अहम्, भ्रमम, मुक्त्वा, भावम्, बाह्यम्, अथ, अन्तरम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्	मैं	इति	ऐसे
आभासः	आभास-रूप अहंकारी जीव हूँ	भ्रमम	भ्रम को
		अथ	और

बाह्यम्=बाहर
अन्तरम्=भीतर
भावम्=भाव को
मुक्त्वा=छोड़ करके
त्वम्=तुम

कूटस्थम्=कूटस्थ
बोधम्=बोध रूप
अद्वैतम्=अद्वैत
आत्मानम्=आत्मा का
परिभावय=विचार करो

भावार्थ ।

हे जनक ! "मैं आभास हूँ", "मैं अहंकार हूँ" इस भ्रम का त्याग करके और जो बाहर के पदार्थों में ममता हो रही है कि 'यह मेरा शरीर है' मेरे ये कान नाक आदि हैं' इन सबमें— 'अहं' और 'मम' भावना का त्याग करके और अन्तर अन्तःकरण के धर्म जो सुख दुःखादि हैं, उनमें जो तुझको अहंभावना हो रही है, उसका त्याग करके आत्मा को अकर्त्ता, कूटस्थ, असंग, ज्ञान-स्वरूप, अद्वैत और व्यापक निश्चय करो ।। १३ ।।

जनकजी प्रार्थना करते हैं कि हे महाराज ! अनादि काल का जो देहादि में अभिमान हो रहा है, वह एक बार के उपदेश से दूर नहीं हो सकता है, अतएव आप पुनः-पुनः मुझे उपदेश करिये ताकि श्रवण करके मेरा देहादि अभिमान दूर हो जावे ।

इस प्रश्न को सुनकर अष्टावक्रजी फिर आत्म-विद्या के उपदेश को करते हैं—

मूलम् ।

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक ।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निष्कृत्य सुखी भव ।। १४ ।।

देहाभिमानपाशेन, चिरम्, बद्धः, असि, पुत्रक, बोधः, अहम्, ज्ञानखड्गेन, तत्, निष्कृत्य, सुखी, भव ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
पुत्रक	हे पुत्र !	बोधः	बोध-रूप हूँ
देहाभिमान-पाशेन	देह के अभिमानरूपी पाश से	इति	ऐसे
चिरम्	बहुत काल का	ज्ञानखड्गेन	ज्ञान-रूपी तलवार से
बद्धः	बँधा हुआ	तत्	उसको यानी उस रस्सी को
असि	हो	निष्कृत्य	काट करके
अहम्	मैं	त्वम्	तुम
		सुखी भव	सुखी हो ॥

भावार्थ ।

हे जनक ! "देहोऽहम्" मैं देह हूँ—इस प्रकार के अभिमान करके तुम चिरकाल से बन्धायमान हो रहे हो। अर्थात् अपने को संसार-बंध में डाल रहे हो अब तुम आत्मज्ञान-रूपी खड्ग से उसका छेदन करके, 'मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ', 'नित्य-मुक्त हूँ'—ऐसा निश्चय करके सुखी हो, क्योंकि तुझमें बन्धन तीनों काल में नहीं है ॥ १४ ॥

जनकजी फिर पूछते हैं कि हे भगवन् ! पतंजलि जी के मतानुयायी चित्त-वृत्ति के निरोध-रूप योग को ही बन्ध की निवृत्ति का हेतु मानते हैं, यह उनका मानना ठीक है या नहीं ?

मूलम् ।

निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः ।
अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि ॥ १५ ॥

निःसंगः, निष्क्रियः, असि, त्वम्, स्वप्रकाशः, निरञ्जनः, अयम्, एव, हि, ते, बन्धः, समाधिम्, अनुतिष्ठसि ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
त्वम्	तुम	ते	तेरा
निःसंगः	संग-रहित	बन्धः	बंधन है
निष्क्रियः	क्रिया-रहित	हि	निश्चितरूपेण
स्वप्रकाशः	स्वयं प्रकाश रूप	समाधिम्	समाधि का
निरञ्जनः	निर्दोष	अनुतिष्ठसि	अनुष्ठान करते हो।
अयम् एव	यही		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! तुम निःसंग हो अर्थात् सबके सम्बन्ध से तुम रहित हो और क्रिया से भी तुम रहित हो । सम्बन्ध से रहित और क्रिया से रहित आत्मा की प्राप्ति के लिये जो समाधि का अनुष्ठान करना है, उसी का नाम बंध है । जो स्वप्रकाश आतमा का ध्यान, जड़-वृत्ति का निरोध करके करता है, उससे बढ़कर और कोई बन्ध नहीं है, और न कोई अज्ञान है । आतमा के स्वरूप के ज्ञान से भिन्न, जितने मुक्ति के उपाय कहे गए हैं, वे सब बंध के ही कारण हैं, किन्तु सब बन्ध-रूप ही हैं ॥ १५ ॥

अब अष्टावक्रजी जनक की विपरीत बुद्धि के दूर करने के निमित्त उपदेश करते हैं—

मूलम् ।

त्वया व्याप्तमिद विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः ।
शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मागमः क्षुद्रचित्तताम् ॥ १६ ॥

पदच्छेदः ।

त्वया, व्याप्तम्, इदम्, विश्वम्, त्वयि, प्रोतम्, यथार्थतः, शुद्धबुद्धस्वरूपः, त्वम्, मागमः, क्षुद्रचित्तताम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
इदम्	यह
विश्वम्	संसार
त्वया	तुम्हारे द्वारा
व्याप्तम्	व्याप्त है
त्वयि	तुम्ही में
प्रोतम्	पिरोया है
त्वम्	तुम
यथार्थतः	परमार्थ से
शुद्धबुद्धस्वरूपः	शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है
क्षुद्रचित्तताम्	विपरीत चित्त वृत्ति को
मागमः	मत प्राप्त हो ।

भावार्थ ।

हे जनक ! जैसे स्वर्ण से कंकणादिक व्याप्त हैं और मृत्तिका से जैसे घटादि व्याप्त हैं, वैसे यह सारा जगत् तुझ चेतन से व्याप्त है और जैसे माला के सूत में दाने सब पिरोये हुए रहते हैं, वैसे यह सारा जगत् तेरे चेतन-रूप तागें से पिरोया हुआ है । जैसे मिथ्या रजत, शुक्ति की सत्ता से सत्यवत प्रतीत होती है--वास्तव में वह सत्य नहीं है, वैसे चेतन की सत्ता से जगत् सत्य की तरह प्रतीत होता है—वास्तव में जगत् सत्य नहीं है । जगत् की अपनी सत्ता कुछ भी नहीं है, किन्तु तुम्हारे संकल्प से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, और तुम्हारे संकल्प के निवृत्त होने से यह जगत् भी निवृत्त हो जावेगा । तुम अपने शुद्ध-स्वरूप में स्थित हो, और क्षुद्रता को मत प्राप्त हो ।

मदालसा ने भी अपने पुत्रों को यही उपदेश करके संसार-बन्धन से छुड़ा दिया था—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसार मायापरि वर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नस्त्यज मोहनिद्रां मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम् ॥

अर्थात् हे तात ! तुम शुद्ध हो, ज्ञान-स्वरूप हो, माया-मल से रहित हो, संसार-रूपी असत् माया नहीं है, संसाररूपी स्वप्न मोह-रूपी निद्रा से प्रतीत हो रहा है, इसको तुम त्याग दो । इस प्रकार माता के उपदेश से वे जीवनमुक्त हो गये ।

हे जनक ! तुम भी ऐसा विचार करके संसार में जीवनमुक्त होकर विचरा करो ॥ १६ ॥

मूलम् ।

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः ।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः ॥ १७ ॥

पदच्छेदः ।

निरपेक्षः, निर्विकारः, निर्भरः, शीतलाशयः, अगाधबुद्धिः, अक्षुब्धः, भव, चिन्मात्रवासनः ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

त्वम्=तुम
निरपेक्षः=अपेक्षा रहित
निर्विकारः=विकार रहित
निर्भरः=चिद्घन-रूप
शीतलाशयः=शान्ति और मुक्ति का स्थान

अन्वयः । शब्दार्थ ।

अगाध बुद्धिः=अगाध चैतन्य बुद्धिरूप
अक्षुब्धः=अविद्या के क्षोभ से रहित
चिन्मात्र वासनः=चैतन्य मात्र में रहनेवाले
भवः=हो

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! निरपेक्ष हो अर्थात् षड्रूर्मियों से रहित हो ।

१—भूख, २—प्यास, ३—शोक, ४—मोह, ५—जन्म, ६—मरण इन छहों का नाम षट् ऊर्मि है। इनमें से भूख और प्यास ये दो प्राण के धर्म हैं। शोक और मोह ये दो मन के धर्म हैं। जन्म और मरण ये दो सूक्ष्म-देह के धर्म हैं। तुझ आत्मा के धर्म ये कोई नहीं—

जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।

अर्थात् जो उत्पन्न होता है, स्थित है, बढ़ता है, परिणाम को प्राप्त होता है, क्षण-क्षण में क्षीण होता है और नाश हो जाता है, ये षट्भाव-विकार स्थूल देह के धर्म हैं, तुझ आत्मा के धर्म नहीं हैं, क्योंकि तुम सूक्ष्म देह से और स्थूल-देह से परे हो और इन दोनों के द्रष्टा हो इसी से तुम निर्विकार हो सच्चिदानन्द रूप, शीतल अर्थात् सुख-रूप हो अगाध बुद्धिवाले हो अक्षुब्ध हो अर्थात् अविद्याकृत क्षोभ से रहित हो अतएव तुम क्रिया से रहित होकर चैतन्य-स्वरूप में निष्ठावाले हो ॥ १७ ॥

अष्टावक्रजी ने उत्थान का दूसरे श्लोक में जनकजी को मोक्ष के उपाय का इस प्रकार उपदेश किया कि विषयों को तुम विष के तुल्य त्याग करो और सत्य को तुम अमृत के तुल्य पान करो, परन्तु विषयों की ओर विष की तुल्यता में, और सत्य-रूप आत्मा की आर अमृत की तुल्यता में कोई भी हेतु नहीं कहा, अतः आगे उसको कहते हैं।

मूलम् ।

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः ॥ १८ ॥

साकारम्, अनृतम्, विद्धि, निराकारम्, तु, निश्चलम्, एतत्तत्त्वोपदेशेन, न, पुनर्भवसम्भवः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
साकारम्	शरीरादिकों को	एतत्तत्त्वोपदेशेन	इस यथार्थ उपदेश से
अनृतम्	मिथ्या	पुनर्भवसम्भव	संसार में पुनः उत्पत्ति
विद्धि	जानो	न	नहीं
निराकारम्	निराकार आत्म-तत्त्व को	भवति	होती है
निश्चलम्	निश्चल नित्य		
विद्धि	जानो		

भावार्थ ।

हे जनक ! साकार जो शरीरादिक है, उनको तुम मिथ्या जानो । जो मिथ्या होकर बन्ध का हेतु होता है, वही विष के तुल्य त्यागने योग्य भी होता है । इसी में एक दृष्टान्त कहते हैं—

एक बनिये के घर में लड़का नहीं होता था । एक दिन रात्रि के समय वह पलँग पर अपनी स्त्री के साथ सो रहा था । उसकी स्त्री ने उस बनिये से कहा कि यदि परमेश्वर हमको एक लड़का दे देवे, तब उसको कहाँ पर सुलावेंगे । बनिया थोड़ा सा पीछे हटा और कहा कि उस लड़के को यहाँ बीच में सुलावेंगे । फिर स्त्री ने कहा कि यदि एक और हो जावे, तब उसको कहाँ पर सुलावेंगे । वह थोड़ा सा और पीछे हटकर कहने लगा कि उसको भी बीच में सुलावेंगे । फिर स्त्री ने कहा कि यदि एक और हो जावे, तब उसको कहाँ सुलावेंगे। फिर पीछे हटकर यह कहता ही था कि

इतने में नीचे गिर पड़ा और उसकी टाँग टूट गई और हाय, हाय करके रोने लगा । तब इधर-उधर से पड़ोस के लोग आकर पूछने लगें कि क्या हुआ, कैसे टाँग तेरी टूट गई । तब बनिये ने कहा कि बिना हुए, मिथ्या लड़के ने मेरी टाँग तोड़ दी । यदि सच्चा होता, तब न जाने क्या अनर्थ करता, वैसे ही साकार जितने स्त्री पुरुषादि विषय हैं, ये सब दुःख के हेतु हैं, ये विष के तुल्य त्यागने योग्य हैं ।

हे जनक ! जो निराकार आत्मतत्त्व है, वह निश्चल है और नित्य है । श्रुति भी ऐसा ही कहती है—

"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"

अर्थात् आत्मा नित्य, विज्ञान और आनन्दस्वरूप है, उसी आत्म-तत्त्व में स्थिरता को पाकर हे जनक ! फिर तू जन्म-मरण रूपी संसार को नहीं प्राप्त होवेगा ।। १८ ।।

अब अष्टावक्रजी वर्णाश्रमी धर्मवाले स्थूल शरीर से और धर्माऽधर्म-रूपी संस्कारवाले लिंग-शरीर से विलक्षण, परिपूर्ण चैतन्य-स्वरूप आत्मा को दृष्टान्त के सहित कहते हैं ।

मूलम् ।

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः ।
तथैवास्मिञ्छरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः ।। १९ ।।

पदच्छेदः ।

यथा, एव, आदर्श मध्यस्थे, रूपे, अन्तः, परितः, तु, सः, तथा, एव, अस्मिन्, शरीरे, अन्तः, परितः, परमेश्वरः ।।

अन्वयः। शब्दार्थ।

यथा=जैसे
एव=निश्चय करके
आदर्श-मध्यस्थे = दर्पण के मध्य में स्थित हुए
रूपे=प्रतिबिम्ब में
सः=वह शरीर
भासते=भासता है
तथा एव=वैसे ही
अस्मिन् शरीरे =इस शरीर में
अन्तः परितः=भीतर और बाहर से
परमेश्वर=परमेश्वर भासता है॥

भावार्थ।

हे जनक! जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब जो शरीरादिक हैं, उनके अन्तर, मध्य और बाहर, चारों तरफ दर्पण व्याप्त हो करके स्थित रहता है अर्थात् वह प्रतिबिम्ब अध्यस्त है, अर्थात् दर्पण में देखने-मात्र का है, स्वरूप से सत्य नहीं है, वैसे ही अपने आत्मा में अध्यस्त जो शरीर है, उसके भीतर, बाहर, मध्य और सर्व और चेतन आत्मा ही व्याप्त करके स्थित है। हे राजन्! कल्पित पदार्थ की अधिष्ठान से भिन्न अपनी सत्ता कुछ भी नहीं होती है, किन्तु अधिष्ठान की सत्ता से वह सत्यवत् प्रतीत होता है—जैसे शुक्ति में रजत, और दर्पण में प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है, वैसे शरीरादिक भी आत्मा में उसी की सत्ता से सत्य के सदृश प्रतीत होते हैं, वास्तव में ये भी सत्य नहीं हैं, किन्तु मिथ्या हैं॥ १९॥

दर्पण के दृष्टान्त से कदाचित् जनक को ऐसा भ्रम हो जावे कि जैसे दर्पण परिच्छिन्न है, वैसे आत्मा भी परिच्छिन्न होगा, इस भ्रम के दूर करने के लिये ऋषिजी दूसरा दृष्टांत देते हैं।

मूलम् ।

एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे ।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा ॥ २० ॥

पदच्छेदः ।

एकम्, सर्वगतम्, व्योम, बहिः, अन्तः, यथा, घटे, नित्यम, निरन्तरं, ब्रह्म, सर्वभूतगणे, तथा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यथा	जैसे
सर्वगतम्	सर्वगत
एकम्	एक
व्योम	आकाश
बहिः	बाहर
अन्तः	भीतर
घटे	घट में
अस्ति	स्थित है
तथा	वैसे ही
नित्यम्	नित्य
निरन्तरम्	निरंतर
ब्रह्म	ब्रह्म
सर्वभूतगणे	सब भूतों के शरीर में
अस्ति	स्थित है ॥

भावार्थ ।

जैसे सर्वगत एक ही आकाश घटपटादिकों में बाहर, भीतर और मध्य में व्यापक है, वैसे ही नित्य, अविनाशी आत्मा भी सम्पूर्ण भूतों के गणों में बाहर, भीतर और मध्य में व्यापक है ।

"एष ते आत्मा सर्वस्यान्तर इति श्रुतेः"

यह तेरा ही आत्मा सबके अन्तर व्यापक है, ऐसा जानकर हे जनक ! तुम सुखपूर्वक विचरण करो ॥ २० ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ।

दूसरा प्रकरण।

मूलम्।

अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडंबितः॥ १॥

पदच्छेदः।

अहो, निरञ्जनः, शान्तः, बोधः, अहम्, प्रकृतेः, परः, एतावन्तम्, अहम्, कालम्, मोहेन, एव, विडंबितः॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
अहो	आश्चर्य है कि
अहम्	मैं
एतावन्तम्	इतने
कालम्	काल पर्यन्त
मोहेन	अज्ञान करके
एव	निःसन्देह
विडंबितः	ठगा गया हूँ
अहम्	मैं
निरञ्जनः	निर्दोष
शान्तः	शान्त
बोधः	बोध रूप
प्रकृतेः	प्रकृति से
परः	परे

भावार्थ।

अष्टावक्रजी के उपदेश से जनक जी को आत्मा का साक्षात्कार जब उदय हुआ, तब जनकजी अपने चेतन स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार करके अपने अनुभव को प्रकट करते हुए बाधितानुवृत्ति से पूर्ण प्रतीत हुए मोह के स्मरण को बड़े आश्चर्य के साथ प्रकट करते हैं—

मैं निरंजन अर्थात् संपूर्ण उपाधियों से रहित एवं शान्त-स्वरूप होकर, अर्थात् संपूर्ण विकारों से रहित होकर, तथा प्रकृति अर्थात् माया-रूपी अंधकार से भी परे होकर, और

बोध-स्वरूप अर्थात् ज्ञान-स्वरूप होकर, इतने काल तक देह और आत्मा के अविवेक से दुःखी होता रहा। आज से हे गुरो ! आपकी कृपा के द्वारा मैं आत्मानन्द अनुभव को प्राप्त हुआ हूँ ॥ १ ॥

मूलम् ।

यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत् ।
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

यथा, प्रकाशयामि, एकः, देहम्, एनम्, तथा, जगत्, अतः, मम, जगत्, सर्वम्, अथवा, न, च, किञ्चन ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यथा	जैसे	अतः	इसलिये
एनम्	इस	मम	मेरा
देहम्	देह को	सर्वम्	सम्पूर्ण
एकः	अकेला ही	जगत्	संसार है
प्रकाशयामि	मैं प्रकाश करता हूँ	अथवा	या
तथा	वैसे ही	+मम	मेरा
जगत्	संसार को भी	किञ्चन	कुछ भी
प्रकाशयामि	प्रकाशित करता हूँ	न	नहीं है ॥

भावार्थ ।

पूर्व वाक्य से जनकजी ने मोह की महिमा को कहा—अब इस वाक्य से गुरु की कृपा के द्वारा जो उनको देह और आत्मा का विवेक ज्ञान हुआ है, उसको युक्ति के साथ बतलाते हैं—

मैं एक ही सारे जगत् को प्रकाशित करता हूँ और इस स्थूल देह का भी प्रकाशक हूँ।

यह देह अनात्मा है यानी जड़ होने से अप्रकाश जगत् की तरह है।

जड़ देह और चेतन आत्मा का आध्यासिक संबंध है, अर्थात् कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है। सत्य और मिथ्या का वास्तविक सम्बन्ध न होने से इन दोनों का पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं है। जैसे—शुक्ति और रजत का कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है, वैसे देह और आत्मा का भी कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध है। जैसे शुक्ति की सत्ता से रजत् भी सत्यवत् भासित होता है, वैसे आत्मा की सत्ता से देह भी सत्यवत् भासित होता है। वास्तव में देह मिथ्या है। इसी तरह आत्मा की सत्ता से ही सारा जगत् सत्यवत् प्रतीत होता है। आत्मा से पृथक् जगत् मिथ्या है, यानी कभी हुआ नहीं है। इसी वार्त्ता को पञ्चदशीकार ने भी कहा है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

अर्थात् "अस्ति" है "भाति" भान होता है "प्रियम्" प्यारा है, रूप और नाम ये पाँच अंश सारे जगत् में व्याप्त करके रहते हैं और इन पाँचों में से अस्ति, भाति, प्रिय ये तीनों अंश ब्रह्म के हैं, ये तीनों अंश सारे जगत् में प्रवेश करके स्थित हैं। नाम और रूप ये दो अंश जड़ जगत् के हैं। यदि नाम और रूप को निकाल दिया जावे, तब जगत् की कोई वस्तु भी सत्य नहीं रह सकती है। नाम और रूप

दोनों विनाशी हैं, क्योंकि एक हालत में नहीं रहते हैं, इसी से सारा जगत् मिथ्या सिद्ध होता है। यह जगत् परब्रह्म के अस्ति भाति और प्रिय इन तीनों अंशों से ही सत्यवत् प्रतीत होता है। यदि इन तीनों अंशों को हर एक पदार्थ से पृथक् कर दिया जाय, तब जगत् का कोई भी पदार्थ सत्यवत् भासित नहीं हो सकता है। इसी से सिद्ध होता है कि जगत् तीनों कालों में मिथ्या है और ब्रह्म ही तीनों कालों में सत्य है। इस युक्ति-सहित अनुभव से जनकजी कहते हैं कि जितना दृश्य जगत है, वह मुझ में ही अध्यस्त अर्थात् कल्पित है, क्योंकि परमार्थ दृष्टि से कोई भी देहादिक मुझमें नहीं है। जैसे आकाश में नीलता, मरु-स्थल में जल; बन्ध्या का पुत्र; शश के शृङ्ग; ये सब तीनों कालों में नहीं है, वैसे ही जगत् भी वास्तव में तीनों कालों में नहीं है, और न कोई मेरे देहादि हैं। मैं माया और उसके कार्य से परे एवं ज्ञान-स्वरूप हूँ ॥ २ ॥

मूलम्।

सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाऽधुना।
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते ॥ ३ ॥

पदच्छेदः।

सशरीरम्, अहो, विश्वम्, परित्यज्य, मया, अधुना, कुत-श्चित्, कौशलात्, एव, परमात्मा, विलोक्यते ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
अहो	आश्चर्य है कि	परित्यज्य	त्याग करके अर्थात् अपने से पृथक् समझ कर
शरीरम्	शरीर सहित		
विश्वम्	विश्व को		

कुतश्चित्=कहीं
कौशलात्=कुशलता से अर्थात् उपदेश से
एव=ही
मया=मुझसे
अधुना=अब
परमात्मा=ईश्वर
विलोक्यते=देखा जाता है

भावार्थ ।

जनकजी फिर भी कहते हैं कि जो लिंग शरीर और कारण-शरीर के सहित संपूर्ण विश्व–विचार करके, शास्त्र और आचार्य के उपदेश और चातुर्य के द्वारा आत्मा से पृथक् अपनी सत्ता से शून्य आत्मा की सत्ता से सत्यवत् भासित होता था, उसको मैं अब मिथ्या जानकर अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा का अवलोकन कर रहा हूँ । क्योंकि आत्माज्ञान के अतिरिक्त और कोई भी आत्मा के अवलोकन का उपाय नहीं है ।। ३ ।।

मूलम् ।

यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गाः फेनबुद्बुदाः ।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ।। ४ ।।

पदच्छेदः ।

यथा, न, तोयतः, भिन्नाः, फेनबुदबुदाः, आत्मनः, न, तथा, भिन्नम्, विश्वम्, आत्मविनिर्गतम् ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यथा	जैसे
तोयतः	जल से
तरङ्गाः	तरङ्ग
फेनबुदबुदाः	फेन और बुल्ला
भिन्नाः	भिन्न
न	नहीं

तथा=वैसे ही
आत्मवि-निर्गतम् } =आत्म-विष्टि
विश्वम्=विश्व
आत्मनः=आत्मा से
भिन्नम्=भिन्न नहीं है ॥

भावार्थ ।

दृष्टान्त—जैसे तरंग और फेन जल से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि जल ही उन सबका उपादान कारण है, वैसे ही यह विश्व आत्मा से उत्पन्न है अर्थात् इसका उपादान कारण आत्मा ही है। इस कारण ऐसा जो जगत् है, वह भी आत्मा से भिन्न नहीं है। जैसे तरंग बुद्बुदादि में जल अनुगत है—वैसे स्वच्छ चैतन्य भी सम्पूर्ण विश्व में अनुगत है। जैसे कल्पित सर्प अपने अधिष्ठानभूत रज्जु से भिन्न नहीं है, किन्तु रज्जु-रूप ही है—वैसे कल्पित जगत् भी अधिष्ठानभूत चेतन से भिन्न नहीं है ॥ ४ ॥

मूलम् ।

तन्तुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारतः ।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम् ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

तन्तुमात्रः, भवेत्, एव, पटः, यद्वत्, विचारतः, आत्म-तन्मात्रम्, एव, इदम्, तद्वत्, विश्वम्, विचरितम् ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

यद्वत्=जैसे
पटः=कपड़ा
तन्तुमात्रः=तंतुमात्र
एव=ही
भवेत्=होता है
तद्वत्=वैसे ही

अन्वयः । शब्दार्थ ।

विचारतः=विचार से
इदम्=यह
विश्वम्=संसार
आत्मतन्मात्रम्=आत्मसत्तामात्र
एव=ही
विचारितम्=प्रतीत होता है ॥

भावार्थ ।

जैसे स्थूल दृष्टि से तन्तुओं से विलक्षण पट प्रतीत होता है, परन्तु विचार-पूर्वक देखने से तन्तु-रूप ही पट है, तन्तुओं से भिन्न पट कोई वस्तु नहीं है—वैसे ही स्थूल दृष्टि द्वारा देखने पर ब्रह्म से विलक्षण जगत् प्रतीत होता है, परन्तु युक्ति और विचार से आत्म-रूप ही जगत् है। जैसे तन्तु अपनी सत्ता से पट में अनुगत है, वैसे ही आत्मा भी अपनी सत्ता से अधिष्ठान भूतरूप होकर सारे जगत् में अनुगत है ॥ ५ ॥

मूलम् ।

यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा ।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरन्तरम् ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

यथा, एव, इक्षुरसे, क्लृप्ता, तेन, व्याप्ता, एव, शर्करा, तथा, विश्वम्, मयि,क्लृप्त, मया, व्याप्तम्, निरन्तरम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यथा	जैसे
एव	निश्चय करके
इक्षुरसे	इक्षु के रस में
क्लृप्ता	अध्यस्त हुई
शर्करा	शक्कर
तेन	उसी से
व्याप्ता एव	व्याप्त है
तथा एवं	वैसे ही
मयि	मुझमें
क्लृप्तम्	अध्यस्त हुआ
विश्वम्	संसार
मया	मुझसे
निरन्तरम्	सदा
व्याप्तम्	व्याप्त है ॥

आत्मा के द्वारा सारा जगत् व्याप्त है, इसी में जनकजी दृष्टान्त कहते हैं—

जैसे इक्षु जो गन्ना है, वह रस में अध्यस्त है, और उसी मधुर-रस से गन्ना भी व्याप्त है, वैसे ही मेरे नित्य आनन्द-स्वरूप में यह सारा जगत् अध्यस्त है, और मेरे नित्य आनन्द-रूप से बाहर और भीतर व्याप्त भी है, इस वास्ते यह विश्व भी आत्म-स्वरूप ही है ॥ ६ ॥

मूलम् ।

आत्माज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते ।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि ॥ ७ ॥

पदच्छेदः ।

आत्माज्ञानात्, जगत्, भाति, आत्मज्ञानात्, न, भासते, रज्ज्वज्ञानात्, अहिः, भाति, तज्ज्ञानात्, भासते, न, हि ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
आत्माज्ञानात्	आत्मा के अज्ञान से
जगत्	संसार
भाति	भासित होता है
आत्मज्ञानात्	आत्मा के ज्ञान से
न भासते	नहीं भासित होता है
यथा	जैसे
रज्ज्वज्ञानात्	रज्जु के अज्ञान से
अहिः	सर्प
भाति	भासित होता है
च	और
तज्ज्ञानात्	उसके ज्ञान से
नहि	नहीं
भासते	भासित होता है

भावार्थ ।

आत्मा के स्वरूप के अज्ञान से जगत् सत्य प्रतीत होता है और अधिष्ठान-स्वरूप आत्मा के ज्ञान से असत् प्रतीत होता है। इसमें लोक-प्रसिद्ध दृष्टान्त कहते हैं—

रज्जु के स्वरूप के अज्ञान से जैसे सर्प प्रतीत होता है, और रज्जु के स्वरूप के ज्ञान से उसमें सर्प प्रतीत नहीं होता है; वैसे ही आत्मा के स्वरूप अज्ञान से जगत् प्रतीत होता है, और आत्मा के स्वरूप के ज्ञान से जगत् प्रतीत नहीं होता है ॥ ७ ॥

मूलम् ।

प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः ।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽहंभास एव हि ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

प्रकाशः, मे, निजम्, रूपम्, न, अतिरिक्तः, अस्मि, अहम्, ततः, यदा, प्रकाशते, विश्वम्, तदा, अहंभासः, एव, हि ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
प्रकाशः	प्रकाश
मे	मेरा
निजम्	निज
रूपम्	रूप
अहम्	मैं
ततः	उससे
अतिरिक्तः	अलग
न अस्मि	नहीं हूँ
यदा	जब
विश्वम्	संसार
प्रकाशते	प्रकाशित होता है
तदा	तब
तत्	वह
अहंभासः	मेरे प्रकाश से
एव हि	ही
+प्रकाशते	प्रकाशित होता है ॥

भावार्थ।

प्रश्न–आत्मा के स्वरूप का जबतक अज्ञान बना है, तबतक आत्मा के प्रकाश का अभाव ही रहता है, तब फिर आत्मा के स्वरूप के प्रकाश का अभाव होने से जगत् का भान कैसे हो सकता है?

उत्तर–जनकजी कहते हैं कि मेरा जो प्रकाश अर्थात् नित्य ज्ञान है, वह मेरा स्वाभाविक स्वरूप है, मैं उस प्रकाश से भिन्न नहीं हूँ, इसी वास्ते जिस काल में मुझको विश्व प्रतीत होता है, तब आत्मा के प्रकाश से ही प्रतीत होता है।

प्रश्न–यदि स्वरूप भूत चेतन ही प्रकाशक है, तब फिर अज्ञान कैसे रह सकता है? क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों तम और प्रकाश की तरह परस्पर विरोधी हैं।

उत्तर–दो प्रकार का चेतन है। एक सामान्य चेतन, दूसरा विशेष चेतन। विशेष चेतन अज्ञान का विरोधी है अर्थात् बाधक है। सामान्य चेतन अज्ञान का विरोधी नहीं है, किन्तु साधक है अर्थात् अज्ञान को सिद्ध करता है। जैसे अग्नि दो प्रकार की है। एक सामान्य अग्नि, दूसरी विशेष अग्नि है। सामान्य अग्नि तो सब काष्ठों में व्यापक है, परन्तु काष्ठों के स्वरूप को जलाती नहीं है, किन्तु बनाती है, क्योंकि जितने जगत् के पदार्थ हैं, वे सब भूतों के पञ्चीकरण से बने हैं। जैसे जो लकड़ी पंचतत्त्वों से बनी है, उसको सामान्य तेज अर्थात् अग्नि जो उसके भीतर है, जलाती नहीं है, पर जब दो लकड़ियों की परस्पर रगड़ से जो विशेष अग्नि-रूप तेज उसमें से उत्पन्न होता है, वह तुरंत उस लकड़ी को जला देता है, क्योंकि वह उसका विरोधी है, वैसे सामान्य चेतन

जो सर्वत्र व्यापक है, वह उस अज्ञान का विरोधी अर्थात् बाधक नहीं है, किन्तु अपनी सत्ता से उसका साधक है, और आत्माकार-वृत्त्यवच्छिन्न विशेष चेतन है, वही उस अज्ञान का बाधक अर्थात् नाशक है । यदि स्वरूप चेतन अज्ञान का विरोधी होवे, तब जड़ की सिद्धि भी न होवेगी । यदि आत्मा के प्रकाश का भी अभाव माना जाये, तब जगदान्ध्य प्रसंग हो जावेगा । इस वास्ते आत्मा के स्वरूप के प्रकाश से ही जगत् भी प्रकाशमान हो रहा है, स्वतः जगत् मिथ्या है ।। ८ ।।

मूलम् ।

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते ।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा ।। ९ ।।

पदच्छेदः ।

अहो, विकल्पितम्, विश्वम्, अज्ञानात्, मयि, भासते, रूप्यम्, शुक्तौ, फणी, रज्जौ, वारि, सूर्यकरे, यथा ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहो	आश्चर्य है कि	शुक्तौ	शुक्ति में
विकल्पितम्	कल्पित	रूप्यम्	चाँदी
विश्वम्	संसार	रज्जौ	रस्सी में
अज्ञानात्	अज्ञान से	फणी	सर्प
मयि	मुझ में	सूर्यकरे	सूर्य की किरणों में
ईदृशम्	ऐसा	वारि	जल
भासते	भासित है	भासते	भासित होता है ।
यथा	जैसे		

भावार्थ ।

जनकजी कहते हैं कि जैसे अज्ञान से शुक्ति में रजत, रस्सी में

सर्प तथा सूर्य किरणों में जल असत् प्रतीत होता है—वैसे ही अज्ञान से मेरे स्वप्रकाश आत्मा में असत् जगत् प्रतीत हो रहा है, यही बड़ा भारी आश्चर्य है ॥ ९ ॥

मूलम् ।

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति ।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा ॥ १० ॥

पदच्छेदः ।

मत्तः, विनिर्गतम्, विश्वम्, मयि, एव, लयम्, एष्यति मृदि, कुम्भः, जले, वीचिः, कनके, कटकम्, यथा ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

मत्तः=मुझ से
विनिर्गतम्=उत्पन्न हुआ
इदम्=यह
विश्वम्=संसार
मयि=मुझमें
लयम्=लय को
एष्यति=प्राप्त होगा
यथा=जैसे

अन्वयः । शब्दार्थ ।

मृदि=मिट्टी में
कुम्भः=घड़ा
जले=जल में
वीचिः=लहर
कनके=स्वर्ण में
कटकम्=भूषण
लयं= } =लय होते हैं ॥
यान्ति= }

भावार्थ ।

जैसे घट मृत्तिका का कार्य है अर्थात् मृत्तिका से ही उत्पन्न होता है और फिर टूटकर मृत्तिका में ही लय हो जाता है—वैसे ही जगत् भी प्रकृति का कार्य है अर्थात् प्रकृति से ही उत्पन्न होता है और प्रकृति में ही लय हो जाता है । चेतन आत्मा से न जगत् उत्पन्न होता है, और न उसमें लीन होता है, क्योंकि जगत् जड़ और आत्मा चेतन है । चेतन से जड़ की उत्पत्ति बनती नहीं है—

ऐसी सांख्यशास्त्रवालों की शङ्का है—उसके उत्तर को कहते हैं—

सांख्य-शास्त्रवाले परिणामवादी हैं और पूर्ववाली अवस्था से अवस्थान्तरता को प्राप्त होने का नाम ही परिणाम है। जैसे दूध का परिणाम दधि, मृत्तिका का घट और सुवर्ण का कुण्डल है—वैसे प्रकृति का परिणाम जगत् है—ऐसे सांख्य-शास्त्रवाले मानते हैं।

नैयायिक आरम्भवादी हैं। अन्य वस्तु से अन्य वस्तु की उत्पत्ति का नाम आरम्भवाद है। जैसे अन्य तन्तु से अन्य पट की उत्पत्ति होती है। वैसे अन्य परमाणुओं से अन्य रूप जगत् की भी उत्पत्ति होती है।

वेदान्ती का तो विवर्त्तवाद है। जो एक ही वस्तु अपनी पूर्व-वाला अवस्था से अन्य अवस्था करके प्रतीत होवे, उसी का नाम विवर्त्त है। जैसे रज्जु का विवर्त्त सर्प है, वह रज्जु ही सर्प-रूप प्रतीत होता है। यदि जगत् ब्रह्म का परिणाम माना जावे, तब तो दोष आवे कि चेतन से जड़ कैसे उत्पन्न होता है? और कैसे जगत् चेतन में लय हो जाता है? ये सब दोष वेदान्ती के मत में नहीं आते हैं। क्योंकि जैसे रज्जु के अज्ञान से रज्जु सर्प-रूप प्रतीत होती है, और रज्जु के ज्ञान से उस सर्प की निवृत्ति हो जाती है—वैसे ब्रह्म, आत्मा के स्वरूप के ज्ञान से जगत् की भी निवृत्ति हो जाती है।

सांख्य और नैयायिक के मत में अनेक दोष पड़ते हैं। एक तो वेद में परिणामवाद और आरम्भवाद कहीं भी नहीं लिखा है, अतएव उनका मत वेद-विरुद्ध है। दूसरे युक्तियों से भी

परिणामवाद और आरम्भवाद सिद्ध नहीं होते हैं । क्योंकि घट मृत्तिका का परिणाम नहीं है और न स्वर्ण का परिणाम कुण्डल हो सकते हैं । उत्पत्ति-काल में भी घट मृत्तिका-रूप ही है, गोलाकार उसका रूप और घट ये दोनों नाम कल्पित हैं । यदि घट से मृत्तिका निकाल दी जावे, तब घट का कहीं पता नहीं लग सकता है, अतएव घट मिथ्या है । इसी तरह स्वर्ण के कुण्डल भी मिथ्या हैं। घट और कुण्डल भी मृत्तिका के विवर्त्त है, क्योंकि मृत्तिका और स्वर्ण ही अन्य रूप से घट और कुण्डल प्रतीत हो रहे हैं ।

अतएव विवर्त्तवाद ही ठीक है । इसी तात्पर्य को लेकर जनकजी कहते हैं कि यह सारा जगत् मुझसे ही उत्पन्न होतां है और फिर मुझमें ही लय हो जाता है । जैसे मृतिका से घट उत्पन्न होता है और फिर मृत्तिका में ही लय हो जाता है ।

प्रश्न—इसमें कोई वेदवाक्य भी प्रमाण है ?

उत्तर—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, इति श्रुतेः ।

अर्थ—जिस आत्मब्रह्म से ये सब भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, जिस ब्रह्म की सत्ता से उत्पन्न होकर जीते हैं और फिर सब मर करके जिसमें लय हो जाते हैं, उसी को तुम अपना आत्मा जानो । यह वेद-वाक्य भी प्रमाण है ॥ १० ॥

मूलम् ।

अहो अहं नमो मह्यं विनाशी यस्य नास्ति मे ।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः ॥ ११ ॥

पदच्छेदः ।

अहो, अहम्, नमः मह्यम, विनाशः, यस्य, न, अस्ति, मे, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तम्, जगन्नाशे, अपि, तिष्ठतः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
ब्रह्मादिस्तम्ब-पर्यन्तम्	= ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त
अपि	=भी
यस्य मे	=जिस मेरे
तिष्ठतः	=होते हुए का
विनाशः	=नाश
न अस्ति	=नहीं है
जगन्नाशे	= जगत् के नाश होने पर
+ अत एव	=इसलिये
अहम्	=मैं
अहो	=आश्चर्यरूप हूँ
अह्यम्	=मेरे लिये
नमः	=नमस्कार है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—यदि ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानोगे, तब यह विकारी हो जाएगा और विकारी होने से नाशी भी हो जाएगा ?

उत्तर—ब्रह्म विकारी और नाशी तब होगा, जब हम जगत् को ब्रह्म का परिणामी उपादान कारण मानें, वैसा तो नहीं है, किन्तु जगत् को हम ब्रह्म का विवर्त्त मानते हैं, इस वास्ते विकारी और नाशी ब्रह्म कदापि नहीं हो सकता है ।

जनकजी कहते हैं कि मैं आश्चर्य-रूप हूँ, क्योंकि सारे जगत् का उपादान कारण होने पर भी मेरा नाश कदापि नहीं होता है एवं स्वर्णादिकों के सदृश विकारता भी मुझ में नहीं है । अतएव मैं अविकारी हूँ और जगत् मेरा विवर्त्त है, इसी कारण वह विवर्त्त का अधिष्ठान-रूप है । उपादान की सत्ता से कार्य की सत्ता के विषम होने का नाम विवर्त्त है । ब्रह्म

की पारमार्थिक सत्ता है और जगत् की प्रातिभासिक सत्ता है। ब्रह्म तीनों कालों में नित्य है और जगत् तीनों कालों में अनित्य है, किन्तु केवल प्रतीति-मात्र ही है, इस वास्ते जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है। जगत् की उत्पत्ति आदि के होने से ब्रह्म का एक रोवाँ भी नहीं बिगड़ता है अर्थात् ब्रह्म की किञ्चिन्मात्र भी हानि नहीं होती है ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त जगत् के नाश होने पर भी ब्रह्म ज्यों का त्यों एकरस रहता है, वही ऐसा पारमार्थिक स्वरूप है ॥ ११ ॥

मूलम् ।

अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि ।
क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः ॥१२॥

पदच्छेदः ।

अहो, अहम्, नमः, मह्यम्, एकः, अहम् देहवान्, अपि, क्वचित्, न, गन्ता, न, आगन्ता, व्याप्य, विश्वम्, अवस्थितः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्	मैं	न क्वचित्	न कहीं
अहो	आश्चर्य-रूप में	गन्ता	जानेवाला हूँ
मह्यम्	मेरे लिये	न क्वचित्	न कहीं
नमः	नमस्कार है	आगन्ता	आनेवाला हूँ
अहम्	मैं	विश्वम्	संसार को
देहवान्	देहधारी होता हुआ	व्याप्य	आच्छादितकरके
अपि	भी	अवस्थितः	स्थित हूँ
एक	अद्वैत हूँ		

भावार्थ ।

प्रश्न—आत्मा अनेक प्रतीत होते हैं, क्योंकि प्रत्येक देह में

आत्मा सुख दुःखादिवाला पृथक् ही प्रतीत होता है। यदि आत्मा एक हो, तब एक को सुखी होने से सबको सुखी होना चाहिए तथा एक के दुःखी होने से सबको दुःखी होना चाहिए, एक के चलने से सबको चलना और एक के बैठने से सबको बैठना चाहिए ?

उत्तर—जनकजी कहते हैं कि बड़ा आश्चर्य है कि मेरी आत्मा एक ही है, तथापि अनेक देहरूपी उपाधियों के भेद से अनेक आत्मा प्रतीत हो रहें हैं। जैसे एक ही जल नाना घट-रूपी उपाधियों में नाना रूपवाला प्रतीत होता है। जैसे एक ही सूर्य का प्रतिबिम्ब नाना जलोपाधियों में हिलता-चलता प्रतीत होता है और जैसे एक ही आकाश नाना घट पटादि उपाधियों में क्रिया आदि वाला प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वे क्रिया आदि सब उपाधियों के धर्म हैं, आकाश के नहीं है। वैसे सुख दुःख गमनागमनादि भी सब देहादि उपाधियों के धर्म हैं, आत्मा के नहीं हैं, इसी से एक ही आत्मा गमनादिकों से रहित व्यापक होकर स्थित है ॥ १२ ॥

मूलम् ।

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः ।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् ॥ १३ ॥

पदच्छेदः ।

अहो, अहम्, नमः, मह्यम्, दक्षः, न, अस्ति, इह, मत्समः, असंस्पृश्य, शरीरेण' येन, विश्वम्, चिरम्, धृतम् ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
अहम्	मैं	येन	जिससे
अहो	आश्चर्य-रूप हूँ	शरीरेण	शरीर से
नमः	नमस्कार है	असंस्पृश्य	पृथक्
मह्यम्	मुझको	मया	मुझसे
इह	इस संसार में	+इदम्	यह
मत्समः	मेरे तुल्य	चिरम्	चिरकाल पर्यन्त
दक्षः	चतुर	विश्वम्	विश्व
न अस्ति	कोई नहीं है	धृतम्	धारण किया गया है ॥

प्रश्न—असंग आत्मा का शरीरादि के साथ संसर्ग कैसे हो सकता है ? और वह जगत् को कैसे धारण कर सकता है ?

उत्तर—जनकजी कहते हैं कि यही तो बड़ा आश्चर्य है कि जो मैं असंग ही करके भी शरीरादिकों को चेष्टा कराता हूँ। जैसे चुम्बक पत्थर स्वयं क्रिया से रहित भी है तथापि लोहे को चेष्टा कराता है। जैसे उसमें एक विलक्षण शक्ति है, वैसे आत्मा में भी एक विलक्षण शक्ति है। वह शरीरादिकों के अन्तर्श असंग स्थित है, पर क्रिया-रहित है, परन्तु शरीर इन्द्रियादि सब अपने-अपने काम को करते हैं। जैसे अग्नि घृत के पिण्ड से अलग रह करके भी उसको पिघला देती है, वैसे ही आत्मा भी सबसे असंग रह करके भी और क्रिया से रहित हो करके भी सारे जगत् को क्रियावान् कर देता है। इसी से जनकजी कहते हैं कि मेरे तुल्य कोई चतुर नहीं हैं, इसी कारण मैं अपने आपको ही नमस्कार

करता हूँ। एवं मुझसे अन्य दूसरा कोई नहीं है कि उसको नमस्कार करूँ ॥ १३ ॥

मूलम् ।

अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ् मनसगोचरम् ॥ १४ ॥

पदच्छेदः ।

अहो, अहम्, नमः, मह्यम्, यस्य, मे, न, अस्ति, किञ्चन, अथवा, यस्य, मे, सर्वम्, यत् वाङ् मनसगोचरम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्	मैं	अस्ति	है
अहो	आश्चर्य-रूप हूँ	अथवा	या
मह्यम्	मुझको	तस्य	जिस
नम	नमस्कार है	मे	मेरा
यस्य	जिस	+तत्	वह
मे	मेरा	सर्वम्	सब है
किञ्चन	कुछ	यत्	जो कुछ
न	नहीं	वाङ्मनसगोचरम्	वाणी और मन का विषय है ।

भावार्थ ।

जनकजी कहते हैं कि मुझ में सम्बन्धवाला कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि वास्तव में कोई पदार्थ सत्य नहीं है, केवल एक ब्रह्मात्मा ही परमार्थ से सत्य है ।

नेह नानाऽस्ति किञ्चन ।

इस चेतन आत्मा में नानारूप से जो जगत् प्रतीत होता है, वह वास्तव में नहीं है—ऐसा श्रुति कहती है ।

मृत्योर्वं मृत्युमाप्नोति य इह नानैव पश्यति ।

वह मृत्यु से भी मृत्यु को प्राप्त होता है, जो ब्रह्म में नानात्व को देखता है अर्थात् नाना आत्मा को देखता है इत्यादि अनेक श्रुतिवाक्य हैं जो द्वैत का निषेध करते हैं। फिर जनकजी कहते हैं कि जितना मन और वाणी का विषय है, वह सब मिथ्या है, उसका मुझ चैतन्य-स्वरूप आत्मा के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है। इसी वास्ते मैं अपने ही आश्चर्य-रूप आत्मा को नमस्कार करता हूँ ॥ १४ ॥

मूलम् ।

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम् ।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरञ्जनः ॥ १५ ॥

पदच्छेदः ।

ज्ञानम्, ज्ञेयम्, तथा, ज्ञाता, त्रितयम्, न, अस्ति, वास्तवम्, अज्ञानात्, भाति, यत्र, इदम्, सः, अहम्, अस्मि, निरञ्जनः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
ज्ञानम्=ज्ञान	
ज्ञेयम्=ज्ञेय	
तथा=और	
ज्ञाता=ज्ञाता	
त्रितयम्=तीनों	
यत्र=जहाँ	
वास्तवम्=यथार्थ में	
न अस्ति=नहीं है	
+च=और	

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अज्ञानात्=अज्ञान से	
+यत्र=जहाँ	
इदम्=यह तीनों	
भाति=भासित होता है	
सः=वह	
अहम्=मैं	
निरञ्जनः=निरञ्जन-रूप	
अस्मि=हूँ	

भावार्थ ।

जनकजी कहते हैं कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; यह जो त्रिपुटी-रूप है, सो भी वास्तव में नहीं है, किन्तु अज्ञान से चेतन में ये तीनों प्रतीत होते हैं। वास्तव में चेतन का इनके साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है। जो माया और माया के कार्य से रहित चेतन आत्मा है, वह मैं ही हूँ ॥ १५ ॥

मूलम् ।

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम् ।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः ॥ १६ ॥

पदच्छेदः ।

द्वैतमूलम्, अहो, दुःखम्, न, अन्यत्, तस्य, अस्ति, भेषजम्, दृश्यम्, एतत, मृषा, सर्वम्, एकः, अहम्, चिद्रसः, अमलः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहो	आश्चर्य है कि	एतत्	यह
द्वैतमूलम्	द्वैत है मूलकारण जिसका ऐसा	सर्वम्	सब
यत्	जो	दृश्यम्	दृश्य
दुःखम्	दुःख	मृषा	झूठ है
तस्य	उसकी	अहम्	मैं
भेषजम्	औषधि	एकः	एक अतद्वैत
अन्यत्	कोई	अमलः	शुद्ध
न अस्ति	नहीं है	चिद्रसः	चैतन्य-रस हूँ

भावार्थ ।

प्रश्न—जब आत्मा निरञ्जन है, तब उसका दुःख के साथ

सम्बन्ध कैसे हो सकता है, पर देखने में आता है और लोग भी कहते हैं कि हम बड़े दुःखी हैं ।

उत्तर—निरञ्जन आत्मा को भी द्वैत भ्रम से दुःख प्रतीत होता है, वास्तव में वह दुःखी नहीं ।

प्रश्न—इस भ्रम-रूपी महान् व्याधि की ओषधि क्या है ?

उत्तर—जो द्वैत प्रतीत हो रहा है, वह सब मिथ्या है। वास्तव में सत्य नहीं है । वास्तव में सत्यबोध-रूप आत्मा ही है, ऐसा जो ज्ञान है, वही त्रिविध दुःख की निवृत्ति की ओषधि है, और कोई उसकी ओषधि नहीं है ।। १६ ।।

मूलम् ।

बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया ।
एवं विमृश्यतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम ।। १७ ।।

पदच्छेदः ।

बोधमात्रः, अहम्, अज्ञानात्, उपाधिः, कल्पितः, मया, एवम्, विमृश्यतः, नित्यम्, निर्विकल्पे, स्थितिः, मम ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्	मैं
बोधमात्रः	बोध-रूप हूँ
मया	मुझसे
अज्ञानात्	अज्ञान से
उपाधिः	उपाधि
कल्पितः	कल्पना किया गया है
एवम्	इस प्रकार
नित्यम्	नित्य
विमृश्यतः	विचार करते हुए
मम	मेरी
स्थितिः	स्थिति
निर्विकल्पे	निर्विकल्प में है ।

प्रश्न—यह जो द्वैत-प्रपंच का अध्यास है, इसका उपादान कारण कौन है ?

उत्तर—जनकजी कहते हैं कि नित्य ज्ञान-स्वरूप जो मैं हूँ, वह मैं ही अज्ञान द्वारा सारे प्रपंच का उपादान कारण हूँ अथवा अज्ञान के सहित जो कल्पित सारा प्रपंच है, उसका अष्ठिान-रूप होने से मैं ही उपादान का कारण हूँ। विचार के विना जो सब मिथ्या प्रपंच सत्य की तरह प्रतीत होता था, वह नित्य विचार करने से असत्य भासित होने लगा। अब अपने स्वरूप चैतन्य में प्राप्त होकर जीवन्मुक्ति को प्राप्त हुआ हूँ ॥ १७ ॥

मूलम् ।

अहो मयि स्थितं विश्व वस्तुतो न मयि स्थितम् ।
न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिःशान्ता निराश्रया ॥ १८ ॥

पदच्छेदः ।

अहो, मयि, स्थितम्, विश्वम्, वस्तुतः, न, मयि, स्थितम्, न, मे, बन्धः, अस्ति, मोक्षः, वा, भ्रान्तिः, शान्ता, निराश्रया ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

मे=मेरा
बन्धः=बन्ध
वा=या
मोक्षः=मोक्ष

अन्वयः । शब्दार्थ ।

न=नहीं
अस्ति=है
अहो=आश्चर्य है कि
मयि=मुझमें स्थित हुआ

विश्वम्=जगत्
वस्तुतः=वास्तव में
मयि=मुझ में
न=नहीं
स्थितम्=स्थित है
इतिविचारतः=ऐसे विचार से
निराश्रयाः=आश्रयरहित
भ्रान्तिः=भ्रान्ति
शान्ता=शान्त हुई है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—मुक्ति क्या पदार्थ है ?

उत्तर—आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः ।

आनंद-स्वरूप आत्मा की प्राप्ति का नाम ही मुक्ति है ।

प्रश्न—यदि पूर्वोक्त मुक्ति को विचार से जन्य मानोगे, तब मुक्ति भी अनित्य हो जावेगी, क्योंकि जो-जो उत्पत्ति-वाला पदार्थ होता है, वह अनित्य होता है—ऐसा नियम है । यदि मुक्ति को विचार से अजन्य मानोगे, तब फिर विचार से रहित पुरुषों की भी मुक्ति होनी चाहिए ?

उत्तर—जनकजी कहते हैं कि वास्तव में तो मुझमें न बंध है, न मोक्ष है, क्योंकि मैं चैतन्य-स्वरूप हूँ ।

प्रश्न—जब कि वास्तविक तुम्हारे में बन्ध और मोक्ष कोई नहीं है, तब फिर शास्त्र के विचार का और गुरु के उपदेश का क्या फल हुआ ?

उत्तर—जो देहादि में चित्रकार की आत्म-भ्रान्ति हो रही है, 'मैं देह हूँ,' 'मैं इन्द्रिय हूँ,' 'मैं ब्राह्मण हूँ,' 'मैं कर्त्ता और भोक्ता हूँ,' इस भ्रान्ति की जो निवृत्ति है—'न मैं देह हूँ'; और 'न इन्द्रिय हूँ'; 'न मैं ब्राह्मण-आदि जातिवाला हूँ'; 'न मैं कर्त्ता और भोक्ता हूँ' किन्तु देहादि से परे इन सबका मैं साक्षी' शुद्ध ज्ञान स्वरूप हूँ—ऐसा अपने स्वरूप

का जो यथार्थ बोध है, यही शास्त्र विचार का और गुरु के उपदेश का फल है।

जनकजी कहते हैं कि अहो ! बड़ा आश्चर्य है कि मुझ में स्थित भी सम्पूर्ण विश्व वास्तव में, तीनों कालों में मुझ में नहीं है—ऐसा विचार करने से मेरी भ्रान्ति दूर हो गई है ॥ १८ ॥

मूलम् ।

सशरीरमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चितम् ।
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाऽधुना ॥ १९ ॥

पदच्छेदः ।

सशरीरम्, इदम्, विश्वम्, न, किञ्चित्, इति, निश्चितम्, शुद्धचिन्मात्रः, आत्मा, च, तत्, कस्मिन्, कल्पना, अधुना ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सशरीरम्=शरीर सहित	
इदम्=यह	
विश्वम्=जगत्	
किंचित् न=	कुछ नहीं है अर्थात् न सत् है, और न असत् है
च=और	
शुद्धिचिन्मात्रः=शुद्ध चैतन्य-मात्र	

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
इति=ऐसा	
यदा=जब	
निश्चितम्=निश्चय हुआ	
तदा=तब	
कस्मिन्=किस में	
अधुना=अब	
कल्पना=	विश्व की कल्पना ॥

भावार्थ ।

शंका—जैसे रज्जु-रूप अधिष्ठान के विद्यमान रहते हुए, कभी न कभी मंद अंधकार में फिर भी सर्प का भ्रम हो

सकता है, वैसे अधिष्ठान चेतन के होते हुए भी मुक्ति में कभी न कभी प्रपंच भी हो जाएगा ।

उत्तर—शरीर के सहित यह विश्व किंचित् भी सत्य नहीं है, और असत्य है, किन्तु अनिर्वचनीय अज्ञान का कार्य होने से अनिर्वचनीय है । उस अनिर्वचनीय की अज्ञान की निवृत्ति होने से उसके कार्य विश्व की भी निवृत्ति हो जाती है । अज्ञान ही कल्पित विश्व का कारण था, उसके नाश हो जाने से फिर मुक्त पुरुष में विश्व उत्पन्न नहीं होता है । जैसे मंद अंधकार के दूर होने से फिर सर्प की भ्रान्ति भी नहीं होती है, वैसे प्रकाश-स्वरूप आत्मा के ज्ञान से फिर कदापि विश्व की उत्पत्ति नहीं होती है ।। १९ ।।

मूलम् ।

शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा ।
कल्पनामात्रमेवैतत्किं मे कार्यं चिदात्मनः ।। २० ।।

पदच्छेदः ।

शरीरम्, स्वर्गनरकौ, बन्धमोक्षौ, भयम्, तथा, कल्पना-मात्रम्, एव, एतत्, किम्, कार्यम्, चिदात्मनः ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
एतत्	यह
शरीरम्	शरीर
स्वर्गनरकौ	स्वर्ग और नरक
बन्धमोक्षौ	बन्ध और मोक्ष
तथा	और
भयम्	भय
एव	निःसंदेह
कल्पनामात्रम्	कल्पना-मात्र है
मे चिदात्मनः	मुझ चैतन्य आत्मा को
किम्	क्या
कार्यम्	कर्त्तव्य है ।

भावार्थ ।

शंका—यदि संपूर्ण प्रपंच अवास्तविक माना जावे, तब वर्ण और जाति आदिकों का आश्रय जो स्थूलशरीर है, वह भी अवास्तविक ही होगा। और शरीर को आश्रयण करके प्रवृत्त जो विधि-निषेध शास्त्र है, वह भी अवास्तविक ही होगा। फिर उस शास्त्र द्वारा बोधन किये हुए जो स्वर्ग नरक हैं, वे भी सब अवास्तविक अर्थात् मिथ्या ही होयेंगे। फिर स्वर्गादिकों में राग, और नरकादिकों से भय भी मिथ्या होंगे। और शास्त्र ने जो बन्ध मोक्ष कहे हैं, वे भी सब मिथ्या ही होंगे।

उत्तर—जनकजी कहते हैं कि शरीरादिक सब कल्पना-मात्र ही हैं। सच्चिदानन्द-स्वरूप मुझ आत्मा का इन शरीरादिकों के साथ कौन सम्बन्ध है, कोई भी सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि सत्य मिथ्या का वास्तविक सम्बन्ध नहीं बन सकता है और मेरा शरीरादिकों के साथ कोई भी प्रयोजन नहीं है। और जितने विधि-निषेध वाक्य हैं, वे सब अज्ञानी के लिए हैं, ज्ञानवान् का उनमें अधिकार नहीं है, इस वास्ते ज्ञानवान् की दृष्टि में शरीरादिक और विधि-निषेध सब अवास्तविक ही हैं ॥ २० ॥

मूलम् ।

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम ।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम् ॥ २१ ॥

पदच्छेदः ।

अहो, जनसमूहे, अपि, न, द्वैतम्, पश्यतः, मम, अरण्यम्, इव, संवृत्तम्, क्व, रतिम्, करवाणि, अहम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहो	आश्चर्य है कि
जनसमूहे	जीवों के बीच में
अपि	भी
मम	मुझे
पश्यतः	देखते हुए का
अरण्यम् इव	अरण्यवत्
द्वैतम्	द्वैत
न सवृत्तम्	नहीं बर्तता है
तस्मात्	तब
क्व	कैसे
अहम्	मैं
रतिम्	मोह को
करवाणि	करूँ

भावार्थ ।

पूर्ववाले वाक्य द्वारा जनकजी ने कहा कि स्वर्गादिकों के साथ मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है । अब इस वाक्य से कहते हैं कि इस लोक के साथ भी मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है ।

जनकजी कहते हैं कि हे प्रभो ! बड़ा आश्चर्य है कि मैं द्वैत को देखता भी हूँ, तब भी जनों का जो समूह-रूपी द्वैत वन की तरह उत्पन्न हुआ है, उसके बीच में होता हुआ भी उसके साथ मुझको कोई प्रीति नहीं है, क्योंकि मैंने उसको मिथ्या जान लिया है । मिथ्या वस्तु के साथ ज्ञानवान् प्रीति को नहीं करते हैं । अज्ञानी मिथ्या पदार्थों के साथ प्रीति करते हैं । इतना ही ज्ञानी और अज्ञानी का भेद है ।। २१ ।।

मूलम् ।

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
अयमेव हि मे बंध आसीद्या जीविते स्पृहा ।। २२ ।।

पदच्छेदः ।

न, अहम्, देहः, न, मे, देहः, जीवः, न, अहम्, अहम्, हि, चित्, अयम्, एव, हि, मे, बन्धः, आसीत्, या, जीविते, स्पृहा ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्=मैं		हि=निश्चय ही	
देहः=शरीर		चित्=चैतन्य-रूप	
न=नहीं		मे=मेरा	
मे=मेरा		अयम् एव=यही	
देहः=शरीर		बन्धः=बंधन	
न=नहीं		या=जो	
अहम्=मैं		जीविते=जीने में	
जीवः=जीव		स्पृहा=इच्छा	
न=नहीं		आसीत्=थी	
अहम्=मैं			

भावार्थ ।

शंका—शरीर में अहंता और ममता अवश्य करनी होगी ? क्योंकि बिना अहंता और ममता के व्यवहार की सिद्धि नहीं होती है।

उत्तर—जनकजी कहते हैं कि मैं देह नहीं हूँ, क्योंकि देह जड़ है, मैं चेतन हूँ, और मेरा देह भी नहीं है, क्योंकि मैं असंग हूँ, मैं जीव अहंकारी भी नहीं हूँ, क्योंकि अहंकार का कर्त्तृत्व धर्म है और मेरा अकर्त्तृत्व धर्म है।

प्रश्न—फिर तुम कौन हो ?

उत्तर—मैं चैतन्य-स्वरूप अहंकार का भी साक्षी अकर्त्ता, अभोक्ता हूँ।

प्रश्न—जब तुम खान पान आदि सब व्यवहारों को करते हो, तो तुम अकर्त्ता कैसे हो ?

उत्तर—अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में मैं व्यवहारों का कर्त्ता प्रतीत होता हूँ, परन्तु वास्तव में मैं कर्त्ता नहीं हूँ। क्योंकि कर्तृत्व भोक्तृत्व अहंकारी का धर्म है, मुझ आत्मा के ये धर्म नहीं हैं। और ऐसा भी कहा है—

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥

अर्थात् सोना-जागना, भिक्षा माँगना, स्नान करना, पवित्र रहना, इन सबकी मैं इच्छा नहीं करता हूँ, और न मैं इनको करता हूँ। यदि कोई देखनेवाला मुझ में ऐसी कल्पना करता है कि मैं इनको करता हूँ, तो दूसरे की कल्पना करने से मेरी क्या हानि हो सकती है।

अब इस विषय में दृष्टांत कहते हैं—

गुंजपुंजादि दह्यत नान्यारोपितवह्निना।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥

अर्थात् जाड़े के दिनों में वन में रहने वाले बंदरों को सरदी लगती है, तब वह घुंघची का ढेर लगाकर उसके पास मिल करके बैठ जाते हैं और घुँघचियों के, याने गुंजा के, ढेर में अग्नि की मिथ्या कल्पना करते हैं। कारण यह है कि मिलकर बैठने से उनमें गरमी उत्पन्न होती है, पर वे

यह जानते हैं कि इस गुंजा के पुंज से हम सबको गरमी आ रही है। जैसे गुंजा में बदरों के द्वारा कल्पना की गई अग्नि दाह का कारण नहीं हो सकती है, वैसे ही मूर्ख अज्ञानियों के द्वारा कल्पना किये गये खान पानादि व्यवहार भी विद्वान् की हानि नहीं कर सकते हैं। क्योंकि विद्वान् वास्तव में अकर्त्ता और अभोक्ता है। उसकी दृष्टि में न तो देहादिक हैं, और न उनके कर्तृत्व और भोक्तृत्व धर्म हैं, किन्तु वे असंग एवं चैतन्य-स्वरूप हैं।

प्रश्न—अविवेकी विवेकियों को जीने की इच्छा क्यों होती है?

उत्तर—जो उनके जीने की इच्छा है यही उनका बंधन है, जीने की इच्छा करके ही अविवेकी पुरुष अनर्थों को करते हैं, विवेकी पुरुष नहीं करते हैं। इस वास्ते जनकजी कहते हैं कि मेरे जीने की और मरने की इच्छा भी नहीं है। क्योंकि जीने-मरने की इच्छा, ये सब अन्तःकरण के धर्म हैं, मुझ असंग चैतन्य-स्वरूप आत्मा के धर्म नहीं हैं॥ २२॥

मूलम्।

अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक समुत्थितम्।
मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते॥ २३॥

पदच्छेदः।

अहो, भुवनकल्लोलैः, विचित्रैः, द्राक्, समुत्थितम्, मयि, अनन्तमहाम्भोधौ, चित्तवाते, समुद्यते।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहो	आश्चर्य है कि
अनन्तमहाम्भोधौ	अपार समुद्र रूप
मयि	मुझमें
चित्तवाते समुद्यते	चित्तरूपी पवन के उठने पर
विचित्रैः	अनेक प्रकार के
भुवनकल्लोलैः	जगत्-रूपी तरंगों के साथ
मम	मेरी
द्राक्	अत्यन्त
समुत्थितम्	अभिन्नता है ॥

भावार्थ ।

जनकजी कहते हैं कि जैसे वायु चलने से समुद्र में बड़े-छोटे अनेक प्रकार के तरंग उत्पन्न होते हैं, और वायु के स्थित होने से वे तरंग लय हो जाते हैं, तैसे आत्मा-रूपी महान समुद्र में चित्त-रूपी वायु के वेग से अनेक ब्रह्मांड-रूपी तरंग उत्पन्न होते हैं, और चित्त के शान्त होने से वे लय हो जाते हैं और जैसे समुद्र के तरंग समुद्र से ही उत्पन्न होते हैं और समुद्र में ही लय हो जाते हैं, और समुद्र के तरंग जैसे समुद्र से भिन्न नहीं हैं, वैसे ब्रह्मांड-रूपी अनेक तरंग भी मुझसे भिन्न नहीं हैं। मुझसे उत्पन्न होते हैं और मुझमें ही लय होते हैं, क्योंकि सब मुझ ही में कल्पित हैं। कल्पित पदार्थ अधिष्ठान से भिन्न नहीं होता है ॥ २३ ॥

मूलम् ।

मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति ।
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः ॥ २४ ॥

मयि, अनन्तमहाम्भोधौ, चित्तवाते, प्रशाम्यति, अभाग्यात्, जीववणिजः, जगत्पोतः, विनश्वरः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अनन्तमहाम्भोधौ	अपार समुद्र-रूप	अभाग्यात्	अभाग्य से
मयि	मुझमें	जगत्पोतः	जगत्-रूपी नौका अर्थात् शरीर
चित्तवाते प्रशाम्यति	चित्त-रूपी पवन के शान्त होने पर	विनश्वरः	नाश हुआ है ॥
जीववणिजः	जीव-रूपी वणिक् के		

भावार्थ ।

जनकजी कहते हैं कि मुझ अनंत महान् में जब संकल्पविकल्पात्मक मन-रूपी वायु शान्त हो जाता है, अर्थात् जब मन संकल्पादिकों से रहित होता है, तब जीव-रूपी व्यापारी की शरीर-रूपी नौका प्रारब्धकर्म रूपी नदी के क्षय होने पर नाश हो जाती है ॥ २४ ॥

मूलम् ।

मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः ।
उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः ॥ २५ ॥

पदच्छेदः ।

मयि, अनन्तमहाम्भोधौ, आश्चर्यम्, जीववीचयः, उद्यन्ति, घ्नन्ति, खेलन्ति, प्रविशन्ति, स्वभावतः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
आश्चर्यम्	आश्चर्य है कि	घ्नन्ति	परस्पर लड़ती हैं
मयि	मुझमें	च	और
अनन्तमहाम्भोधौ	अपार समुद्र में	खेलन्ति	खेलती हैं
जीववीचयः	जीव-रूपी तरगें	+च	और
उद्यन्ति	उठती हैं	स्वभावतः	स्वभाव से
		प्रविशन्ति	लय होती हैं॥

भावार्थ।

अबाधितानुवृत्ति से अपने में संपूर्ण व्यवहार को देखते हुए जनकजी कहते हैं–

प्रश्न—बाधिता अनुवृत्ति का क्या अर्थ है ?

उत्तर—बाधित हुए पदार्थ की जो पुनः अनुवृत्ति अर्थात् प्रतीति है, उसका नाम बाधितानुवृत्ति है।

दृष्टांत।

जैसे एक पुरुष किसी वृक्ष के नीचे, गर्मी के दिनों में, दोपहर के समय बैठा था। उसको प्यास लगी। वह पानी की खोज करने लगा। तब उसको दूर से जल दिखाई दिया। वह उस जल के पीने के वास्ते जब गया, तब उसको जल न मिला। क्योंकि रेत में सूर्य की किरणें पड़ती थीं। वे ही दूर से जल रूप होकर दिखाई पड़ती थी। उसने जान लिया कि यह रेत ही मुझको भ्रम से जल दिखाई देता था। वह तो जल है नहीं, तब वह लौट करके उसी वृक्ष के नीचे आकर बैठ गया। और फिर उसको वही रेता किरण के सम्बन्ध से चमकता हुआ जल-रूप

से दिखाई देने लगा, परन्तु वह पुरुष जल की इच्छा करके वहाँ न गया, क्योंकि उसको निश्चय हो गया कि यह जल नहीं है, दूरत्व दोष से और किरण के सम्बन्ध से मुझको जल दिखाई देता है। पुरुष के यथार्थ ज्ञान से बाधित होने पर भी जलज्ञान की जो पुनः अनुवृत्ति अर्थात् प्रतीति है, उसी का नाम बाधित-अनुवृत्ति है।

दृष्टांत ।

आत्मा के अज्ञान से जो जगत् सत्य की तरह प्रतीत होता था, उसके सत्यवत् ज्ञान का बाध आत्मा के ज्ञान से भी हो गया तथापि उसकी अनुवृत्ति अर्थात् पुनः जो उसकी प्रतीति विद्वान् को होती है, वहीं बाधिता अनुवृत्ति कही जाती है। वह प्रतीति विद्वान् की कुछ हानि नहीं कर सकती है, क्योंकि विद्वान् उसको असत्य जानकर उसमें फिर आसक्ति नहीं करता है, किन्तु मिथ्या जानकर अपने आत्मानन्द में ही मग्न रहता है।

जनकजी कहते हैं कि क्रिया से रहित, निर्विकार, आत्मा-रूपी महान् समुद्र में जीव-रूपी वीचियाँ अर्थात् अनेक तरङ्गें उत्पन्न होती हैं और परस्पर अध्यास से वे जीव आपस में मारपीट करते हैं, खेलते हैं, लड़ते हैं। जैसे स्वप्न के मारे जीव स्वप्न में परस्पर विरोधादिकों को करते हैं और जब उनके अविद्यादि का नाश हो जाता है, तब फिर मेरे असली स्वरूप में ही लय हो जाते हैं। फिर अविद्यादिकों करके उत्पन्न होते हैं, फिर लय होते हैं और जैसे-घट-रूप उपाधि की उत्पत्ति से घटाकाश में उत्पत्ति व्यवहार होता है और घट-रूपी उपाधि

के नाश होने से घटाकाश में नाश का व्यवहार होता है, वास्तव में आकाश की न तो उत्पत्ति होती है और न नाश होता है, वैसे ही शरीरस्थ आत्मा की भी न उत्पत्ति होती है, और न नाश होता है। ज्ञानवान् को बाधितानुवृत्ति करके जगत् की प्रतीति भी होती है, तब भी उसकी कोई हानि नहीं है ॥ २५ ॥

इति श्री अष्टावक्र गीतायां द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्।

—:०:—

तीसरा प्रकरण ।

—:o:—

मूलम् ।

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः ।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

अविनाशिनम्, आत्मानम्, एकम्, विज्ञाय, तत्त्वतः, तव, आत्मज्ञस्य, धीरस्य, कथम्, अर्थार्जने, रतिः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
एकम्=	अद्वैत	आत्मज्ञस्य=	आत्मज्ञानी
अविनाशिनम्=	अविनाशी	धीरस्य=	धीर को
आत्मानम्=	आत्मा को	कथम्=	क्यों
तत्वतः=	यथार्थतः	अर्थार्जने=	धन के संपादन करने में
विज्ञाय=	जान करके	रति=	प्रीति है ॥
तव=	तुझे		

भावार्थ ।

जनकजी के अनुभव की परीक्षा करके अष्टावक्रजी फिर उसकी परीक्षा करते हैं—

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! नाश से रहित, निर्विकल्प, काल-परिच्छेद से रहित, देश-परिच्छेद से रहित, वस्तु-परिच्छेद से रहित, द्वैतभाव से रहित, चैतन्य-स्वरूप आत्मा को जान करके फिर तुझ धीर की व्यावहारिक धन

के संग्रह करने में कैसे प्रीति होती है ? अर्थात् आत्मज्ञानी होकर फिर भी तुम धनादिकों में प्रीतिवाले दिखाई पड़ते हो। इसमें क्या कारण हैं ॥ १ ॥

मुनि के प्रश्न के उत्तर को, मुनि से सुनने की इच्छा करके, उससे आप ही प्रश्न पूछते हैं—

मूलम् ।

आत्माऽज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे ।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

आत्माऽज्ञानात्, अहो, प्रीतिः, विषयभ्रमगोचरे, शुक्तेः, अज्ञानतः, लोभः, यथा, रजतविभ्रमे ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहो	आश्चर्य है	यथा	जैसे
आत्माऽज्ञानात्	आत्मा के अज्ञान से	शुक्तेः	सीपी के
विषयभ्रमगोचरे	विषय के भ्रम के होने पर	अज्ञानतः	अज्ञान से
प्रीतिः	प्रीति होती है	रजतविभ्रमे	रजत की भ्रांति में
		लोभः	लोभ होता है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—हे भगवन ! आत्मज्ञान के प्राप्त होने पर धनादिकों के संग्रह करने में क्या दोष है ?

उत्तर—हे शिष्य ! विषयों में अर्थात् स्त्री पुत्र धनादिकों में जो प्रीति होती है, वह आत्मा के स्वरूप के अज्ञान से ही

होती है, आत्मा के ज्ञान से नहीं होती है। क्योंकि जब आत्मा का ज्ञान होता है, तब विषयों का बोध हो जाता है। इसमें लोक-प्रसिद्ध दृष्टांत को कहते हैं–जैसे शुक्ति के अज्ञान से, और उसमें रजतभ्रम के होने से, उस रजत में लोभ हो जाता है ॥ २ ॥

मूलम् ।

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे ।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

विश्वम्, स्फुरति, यत्र, इदम्, तरंगाः, इव, सागरे, सः, अहम्, अस्मि, इति, विज्ञाय, किम्, दीनः, इव, धावसि ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यत्र	जिस आत्मा-रूपी समुद्र में	अहम्	मैं
इदम्	यह	अस्मि	हूँ
विश्वम्	संसार	इति	इस प्रकार
तरंगाः	तरंगों के	विज्ञाय	जान करके
इव	समान	किम्	क्यों
स्फुरति	स्फुरण होता है	दीनःइव	दीन की तरह
सः	वही	धावसि	तू दौड़ता है ॥

भावार्थ ।

जैसे समुद्र में तरंगादि अपनी सत्ता से रहित प्रतीत होते हैं

वैसे ही यह जगत् भी अपनी सत्ता से रहित स्फुरित होता है, पर सबका अधिष्ठान आत्मा ज्यों का त्यों मैं हूँ । इस प्रकार जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, वह दीन की तृष्णा से व्याकुल हुए की तरह विषयों की तरफ नहीं दौड़ता है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

श्रुत्वाऽपि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम् ।
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

श्रुत्वा, अपि, शुद्धचैतन्यम्, आत्मानम्, अतिसुन्दरम्, उपस्थे, अत्यन्तसंसक्तः, मालिन्यम्, अधिगच्छति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अतिसुन्दरम्	अत्यन्त सुंदर
शुद्धचैतन्यम्	शुद्ध चैतन्य
आत्मानम्	आत्मा को
श्रुत्वा अपि	जान करके भी
उपस्थे	समीपवर्ती विषय में
अत्यन्तसंसक्तः	अत्यन्त आसक्त हुआ पुरुष
मालिन्यम्	मूढ़ता को
अधिगच्छति	प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

आचार्य ने ऊपरवाले तीनों श्लोकों से ज्ञानी शिष्य के लिये दृश्यमान विषय-व्यवहार की निन्दा की ।

अब सब ज्ञानियों के प्रति विषयक व्यवहार की निन्दा शिष्य की परीक्षा के लिए करते हैं—

आत्मवित् गुरु के मुख से और वेदांत-वाक्य से आत्मा का

शुद्ध स्वरूप श्रवण करके और साक्षात्कार करके भी जो पुरुष समीपवर्ती विषयों में अत्यन्त संसक्त होता है, वह कैसे मूढ़ता को प्राप्त होता है, यह बड़े आश्चर्य की बात है ।। ४ ।।

मूलम् ।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते ।। ५ ।।

पदच्छेदः ।

सर्वभूतेषु, च, आत्मानम्, सर्वभूतानि, च, आत्मनि, मुनेः, जानतः, आश्चर्यम्, ममत्वम्, अनुवर्तते ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
आत्मानम्	आत्मा को	जानतः	जानते हुए
सर्वभूतेषु	सब भूतों में	मुनेः	मुनि को
च	और	ममत्वम्	ममता
आत्मनि	आत्मा में	अनुवर्तते	होती है
सर्वभूतानि	सब भूतों को	आश्चर्यम्	यही आश्चर्य है ।।

भावार्थ ।

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यंत सम्पूर्ण भूतों में जिसने अधिष्ठानभूत आत्मा को जान लिया है, और फिर सम्पूर्ण भूतों को जिसने आत्मा में जान लिया है, अर्थात् सम्पूर्ण भूत रज्जु-सर्प की तरह आत्मा में कल्पित हैं, ऐसा जान करके भी जिसका विषयों में ममत्व हो, तो आश्चर्य की वार्त्ता है । क्योंकि जिसने शुक्ति में अध्यस्त रजत को जान लिया है, उसकी प्रवृत्ति फिर उस रजत के लिये नहीं होती है ।। ५ ।।

मूलम्

आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः ।
आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया ।। ६ ।।

पदच्छेदः ।

आस्थितः, परमाद्वैतम्, मोक्षार्थे, अपि, व्यवस्थितः, आश्चर्यम, कामवशगः, विकलः, केलिशिक्षया ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
परमाद्वैतम्	परम अद्वैत को
आस्थितः	आश्रय किया हुआ
+च	और
मोक्षार्थे अपि	मोक्ष के लिए भी
व्यवस्थितः	उद्यत हुआ पुरुष
कामवशगः	काम के वश होकर
केलिशिक्षया	क्रीड़ा के अभ्यास से
विकलः	व्याकुल होता है
आश्चर्यम्	यही आश्चर्य है ।।

भावार्थ ।

जिसने सजातीय और विजातीय स्वगत-भेद से शून्य अद्वैत आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, और सच्चिदानन्द आत्मा में जिसकी निष्ठा हो चुकी है। यदि फिर वह पुरुष काम के वश होकर नाना प्रकार की क्रीड़ा करता हुआ दिखाई पड़े, तो महान् आश्चर्य है ।। ६ ।।

मूलम् ।

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्यातिदुर्बलः ।
आश्चर्यं काममाकाङ्क्षेत्कालमन्तमनुश्रितः ।। ७ ।।

पदच्छेदः ।

उद्भूतम्, ज्ञानदुर्मित्रम्, अवधार्य, अतिदुर्बलः, आश्चर्यम्, कामम्, आकाङ्क्षत्, कालम्, अन्तम्, अनुश्रितः ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
उद्भूतम्=	उत्पन्न हुए
ज्ञानदुर्मित्रम्=	ज्ञान के शत्रु काम को
अवधार्य=	धारण करके
अतिदुर्बलः=	दुर्बल होता हुआ
च=	और
अन्तं कालम्=	अन्तकाल को
अनुश्रितः=	आश्रय करता हुआ पुरुष
कामम्=	कामना को
आकाङ्क्षेत्=	इच्छा करता है
आश्चर्यम्=	यही आश्चर्य है ।।

भावार्थ ।

जो ज्ञानी पुरुष काम को ज्ञान का अत्यन्त वैरी जानता हुआ फिर भी काम की इच्छा करे, तो इससे बढ़कर क्या आश्चर्य है । जैसे मृत्यु से ग्रस्त हुए पुरुष को समीपवर्ती विषय-भोग की इच्छा नहीं होती है—वैसे ही विवेकी पुरुष को भी विषय-भोग की इच्छा न होनी चाहिए ।। ७ ।।

मूलम् ।

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका ।। ८ ।।

पदच्छेदः ।

इह, अमुत्र, विरक्तस्य, नित्यानित्यविवेकिनः, आश्चर्यम्, मोक्षकामस्य, मोक्षात्, एव, विभीषिका ।।

अन्वयः।	शब्दार्थ।
इह	इस लोक के भोग में
च	और
अमुत्र	परलोक के भोग में
विरक्तस्य	विरक्त
नित्यानित्य-विवेकिनः	नित्य और अनित्य के विचार करनेवाले
च	और
मोक्षकामस्य	मोक्ष के चाहनेवाले पुरुष को
मोक्षात् एव	मोक्ष से ही
विभीषिका	भय है
आश्चर्यम्	यही आश्चर्य है ॥

भावार्थ।

आत्मा नित्य है और शरीरादि अनित्य हैं। इन दोनों के विवेचन करनेवाले का नाम विवेकी है। और आनन्द-रूप ब्रह्म की प्राप्ति का नाम मोक्ष है। उस मोक्ष की कामना-वाले ज्ञानी को ऐसा भय हो कि असद्रूप स्त्री, पुत्र और धनादिकों के साथ मेरा वियोग हो जायगा, तो महान् आश्चर्य है। क्योंकि स्वप्न में देखे हुए धन का जाग्रत् में नाश से मोह किसी को भी नहीं हुआ है ॥ ८ ॥

मूलम्।

धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा।
आत्मानं केवलं पश्यन्न तुष्यति न कुप्यति ॥ ९ ॥

पदच्छेदः।

धीरः, तु, भोज्यमानः, अपि, पीड्यमानः, अपि, सर्वदा, आत्मानम्, केवलम्, पश्यन्, न, तुष्यति, न, कुप्यति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
धीर	=ज्ञानी पुरुष	सर्वदा	=नित्य
तु	=तो	केवलम्	=एक
भोज्यमानः	=भोगता हुआ	आत्मानम्	=आत्मा को
अपि	=भी	पश्यन्	=देखता हुआ
च	=और	न तुष्यति	=न तो प्रसन्न होता है
पीडयमानः	=पीड़ित होता हुआ	+च	=और
अपि	=भी	न कुप्यति	=न कोप करता है ॥

भावार्थ ।

ज्ञानी को शोक और कोप भी न होना चाहिए । ज्ञानी पुरुष लोकों की दृष्टि में विषयों को भोगता हुआ भी, और लोकों से निन्दित और पीड़ा को प्राप्त हुआ भी, सर्वदा सुख-दुःख के भोग से रहित केवल आत्मा को देखता हुआ न तो हर्ष को और न कोप को प्राप्त होता है । क्योंकि तोष और रोष आत्मा में नहीं रह सकते हैं । यदि ज्ञानी में भी तोष और रोष रहें, तो बड़ा आश्चर्य है ॥ ९ ॥

मूलम् ।

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत् ।
संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येन्महाशयः ॥ १० ॥

पदच्छेदः ।

चेष्टमानम्, शरीरम् स्वम्, पश्यति, अन्यशरीरवत्, संस्तवे, च, अपि, निन्दायाम्, कथम्, क्षुभ्येत्, महाशयः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
चेष्टमानम्	चेष्टा करते हुए
स्वम्	अपने
शरीरम्	शरीर को आत्मा से भिन्न
अन्यशरीरवत्	अन्य शरीर की तरह
यः	जो
पश्यति	देखता है
सः	वह
महाशयः	महाशयपुरुष
संस्तवे	स्तुति में
च	और
निन्दायाम् अपि	निन्दा में भी
कथम्	कैसे
क्षुभ्येत्	क्षोभ को प्राप्त होगा ॥

भावार्थ ।

जैसे दूसरे का शरीर अपनी आत्मा से भिन्न चेष्टा का आश्रय है, वैसे अपना शरीर भी अपनी आत्मा से भिन्न चेष्टा का आश्रय है । इस प्रकार जो ज्ञानी देखता है, वह अपनी स्तुति में हर्ष को और निन्दा में क्षोभ को कदापि प्राप्त नहीं होता है । यदि वह हर्ष और क्षोभ को प्राप्त होवे, तो वह ज्ञानवान् नहीं है ॥ १० ॥

मूलम् ।

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः ।
अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः ॥ ११ ॥

पदच्छेदः ।

मायामात्रम्, इदम्, विश्वम्, पश्यन्, विगतकौतुकः, अपि, सन्निहिते, मृत्यौ, कथम्, त्रस्यति, धीरधीः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
विगतकौतुकः	दूर हो गई है अज्ञानताजिसकी, ऐसा
धीरधीः	धीर पुरुष
इदम् विश्वम्	इस विश्व को
मायामात्रम्	केवल माया-रूप

अन्वयः।	शब्दार्थ।
पश्यन्	देखता हुआ
मृत्यौ सन्निहिते अपि	मृत्यु के आने पर भी
कथम्	क्यों
त्रस्यति	डरेगा ॥

भावार्थ।

यह जो दृश्यमान जगत् है, सब माया का कार्य है। और माया का कार्य होने से ही वह सब मिथ्या है। जो ज्ञानी उसको मिथ्या देखता है, वह फिर ऐसा विचार नहीं करता है कि कहाँ से ये शरीरादिक उत्पन्न होते हैं और नाश होकर किसमें लय हो जाते हैं। यदि ऐसा विचार करके वह मोह को प्राप्त होवे, तो वह ज्ञानी नहीं हो सकता है। जो विद्वान् अपने स्वरूप में अचल है, वह मृत्यु के समीप अपने पर भी भय को नहीं प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

मूलम्।

निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते ॥ १२ ॥

पदच्छेदः।

निःस्पृहम्, मानसम्, यस्य, नैराश्ये, अपि, महात्मनः, तस्य, आत्मज्ञानतृप्तस्य, तुलना, केन, जायते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यस्य	जिस
महात्मनः	महात्मा का
मानसम्	मन
नैराश्ये अपि	मोक्ष में भी
निःस्पृहम्	इच्छा-रहित है
तस्य	उस
आत्मज्ञान-तृप्तस्य	आत्मज्ञान से तृप्त हुए की
तुलना	बराबरी
केन	किसके साथ
जायते	हो सकती है ॥

भावार्थ ।

अब ज्ञानी की उष्कृष्टता को दिखाते हैं—

जिस विद्वान् कामन मोक्ष की भी इच्छा से रहित एवं संसार के किसी पदार्थ के लाभ-अलाभ में हर्ष और शोक को नहीं प्राप्त होता है, जिसके सब मनोरथ समाप्त हो गये हैं और अपनी आत्मा के आनन्द से ही जो तृप्त है, उस विद्वान् की किसके साथ तुलना की जावे, किसी के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती है, क्योंकि वह अतुल्य है ॥ १२ ॥

मूलम् ।

स्वभावादेव जानानो दृश्यमेतन्न किञ्चन ।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः ॥ १३ ॥

पदच्छेदः ।

स्वभावात्, एव, जानानः, दृश्यम्, एतत्, न, किञ्चन, इदम्, ग्राह्यम्, त्याज्यम्, सः, किम्, पश्यति, धीरधीः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
एतत्	यह
दृश्यम्	दृश्य
स्वभावात्	स्वभाव से ही
न किञ्चन	कुछ नहीं है
इति	ऐसा
जानानः	जानने वाला है
यः	जो
सः धीरधीः	वह ज्ञानी
किम्	कैसे
पश्यति	देख सकता है कि
इदम्	यह
ग्राह्यम्	ग्रहण करने योग्य है
च	और
इदम्	यह
त्याज्यम्	त्यागने-योग्य है ॥

भावार्थ।

यह जो दृश्यमान प्रपंच है, सो सब दृश्य होने से शुक्ति में रजत की तरह मिथ्या है। अर्थात् जैसे शुक्ति में रजत दृश्य भी है और मिथ्या भी है, वैसे यह प्रपंच भी दृश्य होने से मिथ्या है—इस अनुमान-प्रमाण से यह जगत् मिथ्या सिद्ध होता है, ऐसा जिस विद्वान् ने निश्चय कर लिया है, वह धीर पुरुष ऐसा कब देखता है कि यह मेरे को ग्रहण करने-योग्य है, यह मेरे को त्यागने-योग्य है, किन्तु कदापि नहीं देखता है॥ १३ ॥

अब इस में हेतु को आगेवाले वाक्य से कहते हैं—

मूलम्।

अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।

यदृच्छयाऽऽगतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये॥ १४ ॥

पदच्छेदः ।

अन्तस्त्यक्तकषायस्य, निर्द्वन्द्वस्य, निराशिषः, यदृच्छया, आगतः, भोगः, न, दुःखाय, च, तुष्टये ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अन्तस्त्यक्त-कषायस्य	= अन्तःकरण से त्याग दिया है विषय-वासना के कषाय को जिसने	यदृच्छया	= दैवयोग से
एवं	= जो	आगतः	= प्राप्त हुई
निर्द्वन्द्वस्य	= द्वन्द्व से रहित है,	भोगः	= वस्तु
तथा	= जो	न दुखाय	= न दुख के लिए है
निराशिषः	= आशा-रहित है, ऐसे पुरुष को	च	= और
		न तुष्टये	न संतोष के लिए है ।।

भावार्थ ।

जिस विद्वान् ने अन्तःकरण के मल को दूर कर दिया है, वह शीत उष्णादि द्वन्द्वों से अर्थात् शीत और उष्णजन्य सुख-दुःखादि से भी रहित है। और नष्ट हो गई हैं सम्पूर्ण विषय-वासनाएँ जिसकी, ऐसा जो समुचित्त विद्वान् है, उसको दैवयोग से प्राप्त हुए जो भोग हैं, उनको प्रारब्ध-वश भोगता हुआ भी हर्ष और शोक को नहीं प्राप्त होता है ।। १४ ।।

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां तृतीयं प्रकरणं समाप्तम ।

चौथा प्रकरण ।

—:०:—

मूलम्

हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

हन्त, आत्मज्ञस्य, धीरस्य, खेलतः, भोगलीलया, न, हि, संसारवाहीकैः, मूढैः, सह, समानता ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
हन्त	यथार्थ है कि
भोगलीलया	भोगलीला से
खेलतः	खेलते हुए
आत्मज्ञस्य	आत्म-ज्ञानी
धीरस्य	धीर पुरुष की
समानता	बराबरी
संसारवाहीकैः	संसार से लिप्त
मूढैः सह	मूढ़ पुरुषों के साथ
न हि	कदापि नहीं हो सकती है ॥

भावार्थ ।

तृतीय प्रकरण में जो गुरु ने शिष्य की परीक्षा के लिए ज्ञानी के ऊपर आक्षेप किये हैं, अब उन आक्षेपों के उत्तरों को शिष्य कहता है—

प्रारब्ध से और बाधितानुवृत्ति करके सम्पूर्ण व्यवहारों को करता हुआ भी ज्ञानी दोष को प्राप्त नहीं होता है। जनकजी कहते हैं कि हे भगवन् ! जिस आत्मज्ञानी विद्वान् ने सबके अधिष्ठान अपनी आत्मा को जान लिया है, वह

विषयों से विक्षेप को नहीं प्राप्त होता है, अर्थात् उसका चित्त विषयों के सम्बन्ध से विक्षेप को नहीं प्राप्त होता है।

यदि विद्वान् प्रारब्धकर्म के वश से स्त्री आदि भोगों में प्रवृत्त भी हो जावे, तब भी मूढ़ बुद्धिवाले अज्ञानियों के साथ उसकी तुलना किसी प्रकार नहीं हो सकती है। क्योंकि विद्वान् विषयों को भोगता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता है, और मूर्ख कर्मों में आसक्त हो जाता है। इसी वर्त्ता को 'गीता' में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

हे महाबाहो! तत्त्ववित् जो ज्ञानी है, सो इन्द्रियों के विषयों के विभाग को जानता है और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवर्त्तित होती हैं, मैं इनका भी साक्षी हूँ, किन्तु मेरा इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

एवं पञ्चदशीकार ने भी ज्ञानी और अज्ञानी का भेद दिखलाया है—

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणि।
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः॥

प्रारब्ध कर्म के भोग में ज्ञानी और अज्ञानी दोनों तुल्य ही हैं। कष्ट होने पर भी ज्ञानी धीरता से क्लेश को प्राप्त होता है और अज्ञानी मूर्ख अधीरता के कारण क्लेश को प्राप्त होता है।

मूलम् ।

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः ।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

यत्, पदम्, प्रेप्सवः, दीनाः, शक्राद्याः, सर्वदेवताः, अहो, तत्र, स्थितः, योगी, न, हर्षम्, उपगच्छति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यत्	जिस
पदम्	पद को
प्रेप्सवः	इच्छा करते हुए
शक्राद्याः	इन्द्रादि
सर्वदेवताः	सब देवता
दीनाः	दीन हो रहे हैं
तत्र	उस पद पर
स्थितः	स्थित होना हुआ भी
योगी	योगी
हर्षम्	हर्ष को
न उपगच्छति	नहीं प्राप्त होता है
अहो	यही आश्चर्य है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—संसार में व्यवहार में स्थित हुआ भी ज्ञानी अज्ञानी के तुल्य क्यों नहीं हो सकता है ।

उत्तर—अज्ञानी को लाभ और अलाभ में सुख और दुःख होते हैं, परन्तु ज्ञानवान् को नहीं होते हैं। इसी से उनकी तुल्यता नहीं बन सकती है ।

जनकजी कहते हैं कि हे गुरो ! इन्द्र आदि लेकर सब देवता जिसे आत्मपद की प्राप्ति की इच्छा करते हुए बड़ी दीनता को प्राप्त होते हैं, और जिस पद की अप्राप्ति होने में बड़े शोक को प्राप्त होते हैं, उस आत्म-पद में स्थित हुआ

भी योगी विषय-भोग की प्राप्ति होने से, न तो वह हर्ष को प्राप्त होता है, और न विषयों के न प्राप्त होने से या नष्ट होने पर वह शोक को प्राप्त होता है। क्योंकि आत्मसुख से अधिक और सुख नहीं है, वह उसको नित्य प्राप्त है॥ २॥

मूलम्।

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते॥
न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानाऽपि सङ्गतिः॥ ३॥

पदच्छेदः।

तज्ज्ञस्य, पुण्यपापाभ्याम्, स्पर्शः, हि, अन्तः न, जायते, न, हि, आकाशस्य, धूमेन, दृश्यमाना, अपि, सङ्गतिः।

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
तज्ज्ञस्य	उस पद को जानने-वाले के	हि	क्योंकि
अन्तः	अन्तःकरण का	आकाशस्य	आकाश का
पुण्यपापाभ्याम्	पुण्य और पाप के साथ	सङ्गतिः	सम्बन्ध
स्पर्शः	सम्बन्ध	दृश्यमाना	देखा जाता हुआ
न जायते	नहीं होता है	अपि	भी
		धूमेन	धूम के साथ
		न	नहीं है॥

भावार्थ।

ज्ञानवान् विधि-वाक्यों का किङ्कर नहीं होता है, इसी वास्ते उनको पुण्य-पाप भी स्पर्श नहीं करते हैं। जिस विद्वान् ने तत्पद और त्वम्पद के अर्थ को महावाक्यों द्वारा भोग-त्यागलक्षणा करके अभेद अर्थ को निश्चय कर लिया है, उसके अन्तःकरण के धर्म जो पुण्य और पाप हैं, उनके साथ उसका

सम्बन्ध किसी प्रकार नहीं होता है। क्योंकि वह पुण्य और पाप को अन्तःकरण का धर्म मानता है अपनी आत्मा का नहीं। जो अपने में पुण्य और पाप मानता है, उसी को पुण्य-पाप भी लगते हैं। इसमें एक दृष्टांत कहते हैं—

एक पण्डित किसी ग्राम को जाते थे। रास्ते में खेत के किनारे, एक वृक्ष के नीचे, बैठकर, सुस्ताने लगे। उस खेत में एक जाट हल जोतता था। जब उसके बैल हल के आगे चलते-चलते खड़े हो जाते थे, तब वह जाट बैलों को गालियाँ देता था कि 'तेरे खसम की लड़की को ऐसा करूँ।' तेरे खसम के मुख में पेशाब करूँगा।' इत्यादि...

पण्डित ने जब उसको बैलों के प्रति भी गालियाँ देते देखा, तब विचार करने लगे कि इन बैलों का खसम तो यह पुरुष आप ही है और यह अपने को ही ये गालियाँ दे रहा है, परन्तु इस वार्त्ता को यह समझता नहीं है, अतएव उसको समझा देना चाहिए।

तब पण्डित ने उस जाट से कहा कि तू जो बैलों को गालियाँ दे रहा है, ये गालियाँ किसको लगती हैं। तब जाट ने कहा कि जो साला गालियों को समझता है, उसी को लगती हैं। यह सुनकर पण्डितजी चुप होकर चले गये। जाट का तात्पर्य यह था कि मैं तो समझता नहीं हूँ और तू समझता है, अतएव ये गालियाँ तेरे को ही लगती हैं॥

दृष्टान्त।

अज्ञानी पाप और पुण्य को अपने में मानता है इस वास्ते अज्ञानी को ही पाप और पुण्य लगते हैं। ज्ञानी अपने

में नहीं मानता है, किन्तु उनको अन्तःकरण का धर्म मानता है, इस वास्ते उसको पाप-पुण्य नहीं लगते हैं। अथवा जिसको पाप-पुण्य का विशेष ज्ञान होता है, उसी को पाप-पुण्य लगते हैं। बालक को या पागल को पाप-पुण्य का ज्ञान नहीं होता है, इस वास्ते उनको भी पाप-पुण्य नहीं लगते हैं। ज्ञानवान् को भी पाप-पुण्य का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि वह अपने आत्मानन्द में मग्न रहता है, अतएव उसको भी पाप-पुण्य नहीं लगते हैं। इसी पर और दृष्टान्त कहते हैं—

जैसे आकाश का धूम के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे आत्मवित् का भी पुण्य और पाप के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना ।
यदृच्छया वर्त्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

आत्मा, एव, इदम्, जगत्, सर्वम्, ज्ञातम्, येन, महात्मना, यदृच्छया, वर्तमानम्, तम्, निषेद्धुम्, क्षमेत, कः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
येन महात्मना-	जिस महात्मा के द्वारा
इदम् सर्वम्-	यह सम्पूर्ण
जगत्-	संसार
आत्मा एव-	आत्मा ही
ज्ञातम्-	जाना गया है
यदृच्छया-	प्रारब्धवश से
तम्-	उस
वर्तमानम्-	वर्तमान ज्ञानी को
निषेद्धुम्-	निषेध करने को
कः-	कौन
क्षमेत-	समर्थ है ॥

प्रश्न--यदि ज्ञानी कर्मों को करेगा, तो उसको पुण्य-पाप का भी सम्बन्ध जरूर होगा, यह कैसे हो सकता है कि वह कर्म तो करे पर उसको पुण्य-पाप का सम्बन्ध न हो ?

उत्तर--जिस विद्वान् ने दृश्यमान सारे जगत् को अपना आत्मा जान लिया है, उसको प्रारब्धवश से कर्मों में वर्तमान को कौन वाक्य प्रवृत्त करने में व निषेध करने में समर्थ है, किन्तु कोई भी नहीं है। 'शारीरक-भाष्य' में कहा है—

अविद्यावद्विषयो वेदः।

जैसे बन्दी-गण अर्थात् भाट लोग राजा के चरित्रों का वर्णन करते हैं, वैसे वेद भी ज्ञानवान् के चरित्रों का वर्णन करते हैं। इसी कारण ज्ञानवान् को पुण्य-पाप भी स्पर्श नहीं कर सकता है ॥ ४ ॥

मूलम्।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे।
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यमिच्छाऽनिच्छाविवर्जने ॥ ५ ॥

पदच्छेदः।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते, भूतग्रामे, चतुर्विधे, विज्ञस्य, एव, हि, सामर्थ्यम्, इच्छाऽनिच्छाविवर्जने ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्ते=	ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त	**विज्ञस्य एव**=	ज्ञानी का ही
चतुर्विधे=	चार प्रकार के	**इच्छानिच्छा-विवर्जने**=	इच्छा और अनिच्छा के त्याग में
भूतग्रामे=	जीवों के समूह में से	**हि**=	निश्चय
		सामर्थ्यम्=	सामर्थ्य है ॥

प्रश्न—ज्ञानी की प्रवृत्तियदृच्छा से अर्थात् दैवेच्छा से होती है या अपनी इच्छा से होती है ?

उत्तर—ज्ञानी की इच्छा से होती है, अपनी इच्छा से नहीं होती है ।

यद्यपि ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यंत इच्छा और अनिच्छा हटाई नहीं जा सकती है, तथापि ब्रह्मज्ञानी में इच्छा और अनिच्छा के हटाने की सामर्थ्य है, इसी वास्ते यदृच्छा से भोगों में प्रवृत्त होकर या कर्मों में प्रवृत्त होकर विधि-निषेध का किंकर नहीं हो सकता है । शुकदेवजी ने भी कहा है—

भेदाभेदौ सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे
मायामोहौ क्षयमुपगतौ नष्टसंदेहवृत्तेः ।
शब्दातीतं त्रिगुणरहितं प्राप्य तत्त्वावबोधं
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ।।

अर्थात् जिस विद्वान् के आत्मज्ञान के प्रभाव से भेद और अभेद ये दोनों वृत्ति-ज्ञान शीघ्र ही नष्ट हो गये हैं, उसी के पुण्य और पाप भी नष्ट हो जाते हैं; और माया और माया का कार्य मोह, ये दोनों जिसके नष्ट हो गये हैं और जो शब्द आदि विषयों से और तीनों गुणों से रहित हैं और जो आत्म-तत्त्व को प्राप्त हुआ है, और जो तीनों गुणों से रहित होकर निर्गुण ब्रह्म के मार्ग में विचरता रहता है, उसके लिये न कोई विधि है, और न कोई निषेध है ।। १ ।।

प्रश्न—अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ।।

अर्थात् किये हुए जो शुभ-अशुभ कर्म हैं, वे सब अवश्य ही सब जीवों को भोगने पड़ते हैं, तो फिर इन वाक्यों से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—ये सब वाक्य अज्ञानी के प्रति हैं ज्ञानी के प्रति नहीं, ऐसा वेद में भी कहा है। तथा च श्रुतिः—

तस्य पुत्रा दायमुपयान्ति, सुहृदः साधुकृत्यं द्विषन्तः पापकृत्यम् ॥

अर्थात् जो विद्वान् शुभ अशुभ कर्मों को करते हैं, उसके द्रव्य को उसके पुत्र लेते हैं, और उसके मित्र उसके पुण्य कर्मों को लेते हैं, और उसके द्वेषी पाप कर्मों को ले लेते हैं, वह आप पुण्य पाप से रहित होकर मुक्त हो जाता है ॥

तस्य तावदेव हि यावन्न विमोक्ष्ये ।

अर्थात् केवल उतना ही काल उस विद्वान् के मोक्ष में विलंब है, जितने काल तक वह प्रारब्ध-कर्म के भोग से नहीं छूटता है।

अथ संपत्स्ये ।

जब वह प्रारब्ध-कर्मों से छूट जाता है, तब वह शरीर-रूपी उपाधि से रहित होकर ब्रह्म से अभेद को प्राप्त हो जाता है।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।

शरीर त्यागते ही विद्वान् पुण्य-पाप से रहित होकर और भावी जन्म कर्म से रहित होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है।

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ।
और उस विद्वान् के प्राण लोकान्तर में गमन नहीं करते हैं—

अत्रैव समवलीयन्ते ।

इसी जगह अपने कारण में लय हो जाते हैं । इस तरह के अनेक श्रुति-वाक्य हैं, जो विद्वान् के कर्मों के फल का निषेध

करते हैं, और गीता में भगवान् ने कहा है कि ज्ञान-रूपी अग्नि से उसके सब कर्म दग्ध हो जाते हैं ॥

प्रश्न—कारण के नाश होने से कार्य का भी नाश हो जाता है। जैसे तन्तुओं के नाश होने से पट का भी नाश हो जाता है, वैसे ही आत्म-ज्ञान से, अज्ञान के नाश होने से अज्ञान का कार्य जो विद्वान् का शरीर है, उसका भी नाश हो जाना चाहिए ?

ऐसी शंका किसी नैयायिक की है। इसके समाधान को कहते हैं—

उत्तर—कारण अज्ञान के नाश-समकाल ही विद्वान् के शरीर इन्द्रियादिकों का भी नाश हो जाता है अर्थात् ज्ञान-रूपी अग्नि से विद्वान् के देहादिक सब भस्म हो जाते हैं, पर दग्ध हुए भी उसके काम को देते हैं। जैसे 'महाभारत' में ब्रह्मास्त्र से अर्जुन का रथ भस्म हो गया था, तथापि कृष्णजी की शक्ति से वह भस्म हुआ भी रथ चलता-फिरता था वैसे आत्म-ज्ञान से कारण के सहित देहादिक विद्वान् के भस्म हुए भी प्रारब्ध रूपी शक्ति से अपने-अपने कार्य को करते हैं। अथवा नैयायिक के मत में कारण के नाश से एक क्षण पीछे कार्य का नाश होता है। जैसे तन्तुओं के नाश से एक क्षण पीछे पट का नाश होता है वैसे ही अज्ञान रूपी कारण के नाश के एक क्षण पीछे विद्वान् के देहादिकों का भी नाश होता है।

यदि कहो कि देहादिक तो ज्ञान की उत्पत्ति के पीछे अनेक वर्षों तक रहते हैं, वह नहीं। जैसे अल्पकाल तक रहने-वाले पट

का नाश भी अल्प है, वैसे ही अनादिकाल के अज्ञान के कार्य जो देहादिक हैं, उनके नाश के लिये दीर्घकाल लगता है। पूर्वोक्त युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ज्ञानी के ऊपर विधि-निषेध-वाक्यों की आज्ञा नहीं है, किन्तु अज्ञानी के ऊपर ही है॥५॥

मूलम् ।

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम् ।
यद्वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित् ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

आत्मानम्, अद्वयम्, कश्चित्, जानाति, जगदीश्वरम्, यत्, वेत्ति, तत्, सः, कुरुते, न, भयम्, तस्य, कुत्रचित् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
कश्चित्	कोई एक
आत्मानम्	आत्मा अर्थात् जीव को
च	और
जगदीश्वरम्	ईश्वर को
अद्वयम्	अद्वैत
कुरुते	करता है
तस्य	उस आत्म ज्ञानी को
जानाति	जानता है
यत	जिस कर्म को करने योग्य
वेत्ति	जानता है
तत्	उसको
सः	वह
भयम्	भय
कुत्रचित्	कहीं
न	नहीं है ॥

भावार्थ ।

अद्वैत ज्ञान से द्वैत का बाध हो जाता है। और द्वैत के बाध होने से भय का कारण अज्ञान विद्वान् को नहीं रहता है। तत्पद

और त्वपद के लक्ष्यार्थ का भागत्याग लक्षणा करके, और महा-वाक्यों से अभेदता से जो जानता है, वही अद्वैत ज्ञान है। जिसको अद्वैत ज्ञान प्राप्त है, वह विद्वान् है, वही बाधितानुवृत्ति से सम्पूर्ण व्यवहारों को करता भी है; पर उसको किसी का भय नहीं होता है। क्योंकि उसके भय का–द्वैतज्ञान का–बाध हो गया है। इसी वार्ता को श्रुति भगवती भी कहती है—

द्वितीयाद्वै भयं भवति ।

अर्थात द्वैत से ही निश्चय करके भय होता है ।

उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति ।

जो थोड़ा सा भी भेद करता है, उसको भय होता है ।

अन्योऽसावहमन्योस्मि न स वेद यथा पशुः ।

जो अपने से ब्रह्म को भिन्न जानकर उपासना करता है, वह पशु की तरह ब्रह्म को नहीं जानता है ।

ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति ।
ब्रह्मवित् ब्रह्मरूप ही होता है ।
तरति शोकमात्मवित् ।

आत्मवित् संसार-रूपी शोक से तर जाता है। इन श्रुति वाक्यों से भी सिद्ध होता है कि विद्वान् को किसी दूसरे का भी भय नहीं होता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में कोई भी दूसरा नहीं है ॥ ६ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां चतुर्थं प्रकरणं समाप्तम् ।

—:०:—

पाँचवाँ प्रकरण।

— :o: —

मूलम्।

न ते सङ्गोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।
संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज ॥ १ ॥

पदच्छेदः।

न, ते, सङ्गः, अस्ति, केन, अपि, किम्, शुद्धः, त्यक्तुम्, इच्छसि, संघातविलयम्, कुर्वन, एवम्, एव, लयम्, व्रज ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
ते	तेरा	त्यक्तुम्	त्यागना
केन अपि	किसी के साथ भी	इच्छसि	चाहता है
संग	संग	एवम् एव	इस प्रकार ही
न	नहीं	संघातविलयम्	देहाभिमान का त्याग
अस्ति	है	कुर्वन्	करता हुआ
अतः	इसलिये	लयम्	मोक्ष को
शुद्धः	शुद्ध है	व्रज	प्राप्त हो ॥
किम्	किसको		

भावार्थ।

चतुर्थ प्रकरण में शिष्य की परीक्षा के लिए उपदेश किया था, अब उसकी दृढ़ता के लिये चार श्लोकों से लय का उपदेश करते हैं—

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे शिष्य ! तुम शुद्धबुद्ध-स्वरूप हो, तुम्हारी देह गेहादिकों के साथ अहंकार और ममत्व के

आस्पद-रूप से सम्बन्ध नहीं है। जब तुम असंग और शुद्ध हो, तब फिर तुझ में त्याग और ग्रहण कहाँ है, इस-वास्ते अब तुम देह-संघात को लय कर, अर्थात् 'मैं देह हूँ', या 'मेरा यह देह है'— ऐसे अहंकार को भी दूर करके अपने स्वरूप में स्थित हो ॥ १ ॥

मूलम् ।

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः ।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

उदेति, भवतः, विश्वम्, वारिधेः, इव, बुद्बुदः, इति, ज्ञात्वा, एकम्, आत्मानम्, एवम्, एव, लयम्, व्रज ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
भवतः	तुझसे
विश्वम्	संसार
उदेति	उत्पन्न होता है
इव	जैसे
वारिधेः	समुद्र से
बुद्बुदः	बुद्बुद
इति	इस प्रकार
एकम्	एक
आत्मानम्	आत्मा को
एवम् एव	ऐसा
ज्ञात्वा	ज्ञान करके
लयम्	शान्ति को
व्रज	प्राप्त हो ॥

भावार्थ ।

जैसे समुद्र में अनेक बुद्बुदे और तरंग उत्पन्न होते हैं, फिर समुद्र में ही लय हो जाते हैं, समुद्र से भिन्न नहीं हैं,

वैसे ही मन के संकल्प से यह जगत् उत्पन्न हुआ है और मन के ही लय होने से यह जगत् लय हो जाता है। देवी भागवत में कहा है—

शुद्धो मुक्तः सदैवात्मा न वै वध्येत कर्हिचित् ।
बन्धमोक्षौ मनस्संस्थौ तस्मिञ्छान्ते प्रशाम्यति ॥

आत्मा सदैव शुद्ध और मुक्त है, वह कदापि बंध को नहीं प्राप्त होता है बंध और मोक्ष दोनों मन के धर्म हैं। मन के शान्त होने से वन्ध और मोक्ष का नाम भी नहीं रहता है। आत्मा में मन के लय करने से सारा जगत् लय को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥

मूलम् ।

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि ।
रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

प्रत्यक्षम्, अपि, अवस्तुत्वात्, विश्वम्, न, अस्ति, अमले, त्वयि, रज्जुसर्प, इव, व्यक्तम्, एवम्, एव, लयम्, व्रज ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
व्यक्तम्	दृश्यमान	रज्जुसर्प	रज्जु सर्प
विश्वम्	संसार	इव	सदृश भी
प्रत्यक्षम् अपि	प्रत्यक्ष होता हुआ भी	न अस्ति	नहीं है
अवस्तुत्वात्	वास्तव में	एवम् एव	इसी लिये
अमले	मलरहित	लयम्	शान्ति को
त्वयि	तुझ में	व्रज	प्राप्त हो ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—प्रत्यक्ष प्रमाण से रज्जु में सर्पादिकों का भेद प्रतीत होता है, उनका कैसे लय हो सकता है ? क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है, उसका लय नहीं होता है ?

उत्तर—प्रत्यक्ष प्रमाण का जो विषय है, उसका भी बाध शास्त्र से हो जाता है । जैसे चन्द्रमा का मंडल प्रत्यक्ष प्रमाण से तो एक बित्ता भर का दिखाई देता है, परन्तु ज्योतिष-शास्त्र में वह दश हजार योजन का लिखा है । उस शास्त्र से बित्ता भर का नहीं माना जाता है । वैसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय जो जगत् है, वह भी श्रुति-वाक्यों से बाधित हो जाता है, क्योंकि जगत् वास्तव में तीनों कालों में नहीं है, और जैसे स्वप्न की सृष्टि और गंधर्व-नगरादि तीनों कालों में नहीं है, वैसे ही यह जगत् भी वास्तव में तीनों कालों में नहीं है । ऐसा चिन्तन ही जगत् के लय का हेतु है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

समदुःख-सुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः ।
समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

समदुःख-सुखः, पूर्णः, आशानैराश्ययोः, समः, समजीवित-मृत्युः, सन्, एवम्, एव, लयम्, व्रज ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
समदुःखसुखः=	तुल्य है दुःख और सुख जिसको	समजीवितः मृत्युः=	तुल्य है जीना और मरना जिसको
पूर्णः=	जो पूर्ण है	एवम् एव=	ऐसा
आशानैराश्ययोः=	आशा और निराशा में	सन्=	होता हुआ
समः=	जो बराबर है	लयम्=	ब्रह्म-दृष्टि को
		व्रज=	प्राप्त हो॥

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! तू आत्मानंद से पूर्ण है। दैवयोग से शरीर में उत्पन्न हुए जो सुख दुःख हैं, उनमें भी तू पूर्ण है, आशा और निराशा में तू सम है, जीने और मरने में भी तू सम है, तू निर्विकार है, सुख दुःखादि सब अनात्मा के धर्म हैं, और मिथ्या हैं। क्योंकि इनके धर्मी जो देहादिक हैं, वे भी सब मिथ्या हैं। उत्पत्ति से पूर्व जो देहादिक नहीं थे, और नाश के उत्तर भी नहीं रहते हैं, वे बीच में भी प्रतीतमात्र हैं। जो वस्तु उत्पत्ति से पूर्व और नाश से उत्तर न हो, वह बीच में भी वास्तविक नहीं होती है, केवल प्रतीतिमात्र ही होती है। जैसे स्वप्न के पदार्थ और रज्जु विषे सर्पादिक मिथ्या हैं, वैसे यह जगत् भी मिथ्या है। वास्तव में तीनों कालों में नहीं हैं केवल ब्रह्म ही ब्रह्म हैं॥

सर्वंखल्विदं ब्रह्म॥

यह संपूर्ण जगत् निश्चय करके ब्रह्म-रूप ही है, ऐसे चिंतन का नाम ही लयचिंतन है॥ ४॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां पंचमं प्रकरणं समाप्तम्॥

छठा प्रकरण।

—:०—

मूलम् ।

आकाशवदनन्तोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत् ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

आकाशवत्, अनन्तः, अहम्, घटवत्, प्राकृतम्, जगत्, इति, ज्ञानम्, तथा, एतस्य, न, त्यागः, न, ग्रहः, लयः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
आकाशवत्=आकाशवत		एतस्य=इसका	
अहम्=मैं		न त्यागः=न त्याग है	
अनन्तः=अनन्त हूँ		च=और	
जगत्=संसार		न ग्रहः=न ग्रहण है	
घटवत्=घटवत्		च=और	
प्राकृतम्=प्राकृतिजन्य है		न लयः=न लय है	
तथा=इस कारण		इति ज्ञानम्=ऐसा ज्ञान है ॥	

भावार्थ ।

शिष्य की परीक्षा के लिए पाँचवें प्रकरण द्वारा गुरु ने लययोग-रूप चिंतन का उपदेश किया। अब इस छठे प्रकरण में गुरु अपने अनुभव को दिखाता हुआ लयादिकों के असंभव को दिखाता है—

लय चिंतन-रूप योग भी मुझ में नहीं बनता है। लय उसका होता है, जो उत्पत्तिवाला पदार्थ है। जिसकी उत्पत्ति

ही तीनों कालों में नहीं है, उसका लय भी नहीं है। जैसे बंध्या का पुत्र और शशक के सींग की उत्पत्ति नहीं है और न उसका लय है, वैसे ही जगत् भी तीनों कालों में न उत्पन्न हुआ है, न होगा, और न वर्तमान काल में है। तब उसका लयचिंतन कैसे हो सकता है, किन्तु कदापि नहीं हो सकता है।

प्रश्न—यदि जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है, तब प्रतीत क्यों होता है ?

उत्तर—मांडूक-कारिका में कहा है—

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥
स्वप्नमाये यथा दृष्टे गंधर्वनगरं तथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥

अर्थात् जो वस्तु उत्पत्ति से पहले नहीं है, और नाश से उत्तर भी नहीं है, वह वर्तमान काल में भी नहीं है, परन्तु मिथ्या होकर सत्य की तरह वर्तमान काल में प्रतीत होती है ॥ १ ॥

जैसे स्वप्न के हाथी-घोड़े, और इन्द्रजाली से रचे हुए पदार्थ, और गन्धर्वनगर; ये सब बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे यह जगत् भी बिना हुए ही प्रतीत होता है। ज्ञानियों ने ऐसा अनुभव करके वेदान्त-शास्त्र द्वारा देखा है कि केवल अद्वैत अनंत-स्वरूप आत्मा ही सत्य है, और सारा प्रपंच प्रतीतिमात्र ही है, वास्तव में नहीं है।

प्रश्न—अनंत-स्वरूप आत्मा का देहादिकों में निवास कैसे हो सकता है ? बड़ी वस्तु छोटी वस्तु के भीतर नहीं आ सकती है ?

उत्तर—जैसे घटमठादिक आकाश के निवास के स्थान हैं, और भेदक भी हैं, वैसे ही देहादिक भी अनन्त-स्वरूप आत्मा के निवास के स्थान हैं, और भेदक भी हैं। वास्तव में तो यह जगत् मिथ्या माया का कार्य होने से मिथ्या है। इस प्रकार वेदान्त से सिद्ध जो ज्ञान है, वही अनुभवरूप होकर जगत् के मिथ्यात्व में प्रमाण है, इस वास्ते लयचिंतनादिक भी जगत् के नहीं बन सकते हैं ॥ १ ॥

मूलम् ।

महोदधिरिवाहं स प्रपञ्चो वीचिसन्निभः ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

महोदधिः, इव, अहम्, सः, प्रपञ्चः, वीचिसन्निभः, इति, ज्ञानम्, तथा, एतस्य, न, त्यागः, न, ग्रहः, लयः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्	मैं
महोदधिः इव	समुद्र सदृश हूँ
सः	यह
प्रपञ्चः	संसार
वीचिसन्निभः	तरंगों के तुल्य हैं
तथा	इस कारण
न	न
एतस्य त्याग	इसका त्याग है
च	और
न	न
ग्रहः लयः	ग्रहण और लय है
इति ज्ञानम्	यह ज्ञान है अर्थात् इस प्रकारके विचारे को ज्ञान कहते हैं ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—घटाकाश के दृष्टान्त से तो देह और आत्मा के भेद की शंका उत्पन्न होती है। जैसे आकाश से घट भिन्न है, और घट से आकाश भिन्न है, वैसे आत्मा से देह भिन्न है, और देह से आत्मा भिन्न है, दोनों के भिन्न-भिन्न होने से ही द्वैत साबित हुआ, अद्वैत आत्मा तो साबित न हुआ ?

उत्तर—जनकजी कहते हैं कि आत्मा महान् समुद्र की तरह है, उसमें प्रपंच लहरों की तरह है। इस प्रकार का अनुभव-रूप ज्ञान ही अद्वैत में प्रमाण है ॥ २ ॥

मूलम् ।

अहं सः शुक्तिसङ्काशो रूप्यवद्विश्वकल्पना ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

अहम्, सः, शुक्तिसंकाशः, रूप्यवत्, विश्वकल्पना, इति, ज्ञानम्, तथा, एतस्य, न, त्यागः, न, ग्रहः, लयः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सः	वह
अहम्	मैं
शुक्तिसंकाशः	शुक्ति के तुल्य हूँ
विश्वकल्पना	विश्व की कल्पना
रूप्यवत्	रजत के समान है
तथा	इस कारण
एतस्य	इसका
न त्यागः	न त्याग है
न लयः	न लय है
इति ज्ञानम्	यही ज्ञान है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—जैसे सब बीचियाँ समुद्र के विकार हैं और समुद्र विकारी है, वैसे आपके दृष्टान्त से देह आत्मा का विकार है, और आत्मा विकारी सिद्ध होता है ?

उत्तर—अष्टावक्रजी कहते हैं कि विकार, विकारीभाव सावयव पदार्थों में होते हैं, निरवयव पदार्थ में नहीं होते हैं, इसलिये तुम्हारा दृष्टान्त सार्थक नहीं है, अतएव मेरे दृष्टान्त को सुनो—

जैसे शुक्ति सत्य-रूप है और उसमें रजत मिथ्या है, वैसे ही देहादिक समग्र प्रपंच का अधिष्ठान-रूप मैं ही सत्य हूँ और सारा प्रपंच मेरे में कल्पित रजत की तरह मिथ्या है। इसी कारण द्वैत तीनों कालों में सिद्ध नहीं हो सकता है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

अहम्, वा, सर्वभूतेषु, सर्व भूतानि, अथो, मयि, इति, ज्ञानम्, तथा, एतस्य, न, त्यागः, न, ग्रहः, लयः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्	मैं	सर्वभूतानि	सब भूत
वा	निश्चय ही	मयि	मुझमें
सर्वभूतेषु	सब भूतों में हूँ	सन्ति	हैं
अथो	और	तथा	इस कारण से

एतस्य—इसका
न त्यागः—न त्याग है
न ग्रहः—न ग्रहण है
च—और
न लयः—न लय है
इति ज्ञानम्—इस प्रकार का ज्ञान है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—शुक्ति में रजत के दृष्टान्त से भी आत्मा की परिच्छिन्नता की शंका होती है, क्योंकि जैसे शुक्ति परिच्छिन्न और एकदेशवर्ती है, वैसे ही आत्मा भी परिच्छिन्न और एकदेशवर्ती सिद्ध होगा ?

उत्तर—जनकजी कहते हैं कि मैं ही सम्पूर्ण भूतों में व्यापक-रूप से मणियों में सूत की तरह वर्तमान हूँ, मैं ही सबका अधिष्ठान-रूप होकर सत्ता और स्फूर्ति का देनेवाला हूँ, मुझ में ही सारा जगत् आकाश में नीलिमा की तरह अध्यस्त (व्याप्त) है। इस प्रकार का दान्त वाक्यों से सिद्ध ज्ञान अर्थात् अनुभव आत्मा के अद्वैत होने में प्रमाण है। और जब मैं हूँ, तो मुझ में ग्रहण, त्याग और लय चिंतनादिक भी नहीं बनते हैं ॥ ४ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां षष्ठं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

——:o:——

सातवाँ प्रकरण ।

—:o:—

मूलम् ।

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः ।
भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

मयि, अनन्तमहाम्भोधौ, विश्वपोतः, इतः, ततः, भ्रमति, स्वान्तवातेन, न, मम, अस्ति, असहिष्णुता ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मयि अनन्त-महाम्भोधौ	मुझ अनन्त महासमुद्र में	भ्रमति	भ्रमती है
विश्वपोतः	विश्व-रूपी नौका	परन्तु	परन्तु
स्वान्तवातेन	मन-रूपी पवन से	मम	मुझको
इतस्ततः	इधर से उधर	असहिष्णुता	असहनशीलता
		न अस्ति	नहीं है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—यदि लय चिंतन नहीं होगा, तो सांसारिक विक्षेप भी बने रहेंगे और वे कदापि दूर नहीं होंगे ?

उत्तर—वे बने रहें, तो मेरी क्या हानि है । अनन्त महान् समुद्र-रूपी मुझ आत्मा में यह विश्व-रूपी नौका मन-रूपी पवन से इधर-उधर भ्रमती है, उसका भ्रमण करना मेरे लिए असह्य नहीं है । जैसे समुद्र में पवन से इधर-उधर भ्रमती हुई नौका

समुद्र को क्षुब्ध नहीं कर सकती है, वैसे मन-रूपी पवन से इधर-उधर भ्रमती हुई विश्व-रूपी नौका भी समुद्र-रूपी आत्मा को क्षुब्ध नहीं कर सकती है ॥ १ ॥

मूलम् ।

मय्यनन्तमहाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः ।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

मयि, अनन्तमहाम्भोधौ, जगद्वीचिः, स्वभावतः, उदेतु, वा, अस्तम्, आयातु, न, मे, वृद्धिः, न, च, क्षतिः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मयि अनन्त-महाम्भोधौ	मुझ अनन्त महासमुद्र में	आयातु	प्राप्त हो
जगद्वीचिः	जगत्-रूपी कल्लोल	मे	मेरी
स्वभावतः	स्वभाव से	न	न
उदेतु	उदय हो	वृद्धि	वृद्धि है
वा	और चाहे	च	और
अस्तम्	लय को	न	न
		क्षतिः	हानि है ॥

भावार्थ ।

पूर्ववाले वाक्य से जगत् के व्यवहार को अनिष्टता का अभाव कहा। अब इस वाक्य से जगत् की उत्पत्ति आदि को भी अनिष्टता का अभाव बतलाते हैं।

जनकजी कहते हैं कि विनाश से रहित व्यापक आत्मा-रूप समुद्र में जगत्-रूपी अनेक लहरें उदित होती हैं, और फिर अस्त हो जाती हैं। उनके उदय होने से आत्मा की वृद्धि नहीं होती है और उनके अस्त होने से आत्मा की कोई हानि नहीं होती है। जैसे समुद्र की लहरों के उदय और अस्त होने से समुद्र की कुछ भी हानि नहीं है ॥ २ ॥

मूलम्।

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना।
अतिशान्तो निराकार एतदेवाहमास्थितः ॥ ३ ॥

पदच्छेदः।

मयि, अनन्तमहाम्भोधौ, विश्वम्, नाम, विकल्पना, अतिशान्तः, निराकारः, एतत्, एव, अहम्, आस्थितः।

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
मयि	मुझ	अहम्	मैं
अनंत-महाम्भोधौ	अनंत महा-समुद्र में	अतिशान्तः	अत्यंत शांत
नाम	निश्चय करके	निराकारः	निराकार
विश्वम्	संसार	च	और
विकल्पना	कल्पना मात्र है	एतत् एव	इसी आत्मा के
		आस्थितः	आश्रय हूँ ॥

समुद्र और लहर के दृष्टान्त से किसी को ऐसा भ्रम न हो जावे कि आत्मा का विकार जगत् है, इस भ्रम को दूर करने के लिए जनकजी दूसरी रीति से कहते हैं।

मुझ महान् समुद्र-रूपी आत्मा में जो जगत् की कल्पना है, वह भ्रम-मात्र ही है। वास्तव में नहीं है, क्योंकि मेरा अनन्त-स्वरूप निराकार है। निराकार से साकार की उत्पत्ति नहीं बनती है। जब कि आत्मा में जगत् की वास्तव में उत्पत्ति नहीं बनती है, तो मैं प्रपंच से रहित शान्त-रूप होकर स्थित हूँ। एवं लय योगादिक भी मुझको करना उचित नहीं है॥ ३॥

मूलम्।

नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरञ्जने।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थितः॥ ४॥

पदच्छेदः।

न, आत्मा, भावेषु, नो, भावः, तत्र, अनन्ते, निरञ्जने, इति, असक्तः, अस्पृहः, शान्तः, एतत्, एव, अहम् आस्थितः॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
आत्मा	आत्मा	नो	नहीं है
भावेषु	देह आदि में	इति	इस प्रकार
न	नहीं	असक्तः	संग रहित
+च	और	शान्तः	शान्त हुआ
भावः	देहादि	अहम्	मैं
तत्र	उस	एतत् एव	इसी आत्मा के
अनन्ते	अनन्त	आस्थितः	आश्रित हूँ॥
निरञ्जने	निर्द्वन्द्व आत्मा में		

भावार्थ।

आत्मा देहादिभावों में आधेय अर्थात् आश्रित-रूप से

नहीं है, क्योंकि आत्मा व्यापक है, देहादिक सब परिच्छिन्न हैं । व्यापक, परिच्छिन्न के आश्रित नहीं होता और आत्मा निराकार होने से देहादि की उपाधि भी नहीं हो सकती है, क्योंकि आत्मा सत्य है, देहादि सब मिथ्या है । सत्य वस्तु मिथ्या वस्तु की उपाधि नहीं हो सकती है । और देह इन्द्रियादि आत्मा की उपाधि भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि आत्मा अनन्त और निरञ्जन है और देहादि अन्तवान् और नाशवान् हैं, इसी कारण आत्मा सम्बन्ध से रहित है और इच्छा आदिकों से भी रहित है एवं आत्मा शान्त स्वरूप है ।। ४ ।।

मूलम् ।

अहो चिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ।। ५ ।।

पदच्छेदः ।

अहो, चिन्मात्रम्, एव, अहम्, इन्द्रजालोपमम्, जगत्, अतः, मम, कथम्, कुत्र, हेयोपादेयकल्पना ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहो	आश्चर्य है कि
अहम्	मैं
चिन्मात्रम्	चैतन्य मात्र हूँ
जगत्	संसार
इन्द्रजालोपमम्	इन्द्रजाल की तरह
अतः	इसलिये
मम	मेरी
हेयोपादेयकल्पना	हेय और उपादेय की कल्पना
कथम्	क्योंकर
च	और
कुत्र	किसमें हो ।।

विद्वान् में इच्छा आदि भी स्वतः नहीं होते हैं, इसमें जो कारण है उसको कहते हैं—

जनकजी कहते हैं कि मैं चैतन्य-स्वरूप हूँ और सम्पूर्ण जगत् इन्द्रजाल के तुल्य मेरी सत्ता के बल और अपनी सत्ता से रहित प्रतीत होता है। चूँकि जगत् की अपनी सत्ता कुछ भी नहीं है इस वास्ते मुझ को किसी पदार्थ में भी किसी प्रकार करके त्याग और ग्रहण की बुद्धि नहीं होती है। जो पुरुष जगत् के पदार्थों को सत्य मानता है, उसी की उनमें ग्रहण और त्याग-बुद्धि होती है॥ ५॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

—:o:—

आठवाँ प्रकरण।

—:o:—

मूलम्।

तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति।
किञ्चिन्मुञ्चति गृह्णाति किञ्चिद्धृष्यति कुप्यति॥ १॥

पदच्छेदः।

तदा, बन्धः, यदा, चित्तम्, किञ्चित्, वाञ्छति, शोचति, किञ्चित्, मुञ्चति, गृह्णाति, किञ्चित्, हृष्यति, कुप्यति॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
यदा	जब
चित्तम्	मन
वाञ्छति	चाहता है
किञ्चित्	कुछ
शोचति	शोक करता है
किञ्चित्	कुछ
मुञ्चति	त्यागता है
किञ्चित्	कुछ
गृह्णाति	ग्रहण करता है
हृष्यति	प्रसन्न होता है
कुप्यति	दु:खित होता है
तदा	तब
बन्धः	बन्ध है॥

भावार्थ।

पहले के सात प्रकरणों द्वारा अष्टावक्रजी ने सब प्रकार से जनकजी के अनुभव की परीक्षा करली। अब इस आठवें प्रकरण में चार श्लोकों द्वारा अपने शिष्य के अनुभव की श्लाघा को करते हैं—

हे जनक! जो तुमने पूर्व कहा है कि मुझ अनन्त-स्वरूप आत्मा में त्याग और ग्रहण करने की कल्पना नहीं है, वह ठीक कहा है। क्योंकि जब चित्त विषयों की इच्छावाला होकर किसी पदार्थ की प्राप्ति की इच्छा करता है और उसके अप्राप्त होने

से फिर शोच करता है और कष्ट होता है, तब उसके त्याग की इच्छा करता है । और जब चित्त में लोभ उत्पन्न होता है तब ग्रहण की इच्छा करता है तथा पदार्थ की प्राप्ति होने पर हर्ष को प्राप्त होता है, अप्राप्ति होने पर क्रोधित होता है । इस प्रकार जबकि अनेक वासनाओं से चित्त युक्त होता है, तब जीव को बन्ध होता है । योगवाशिष्ठ में भी कहा है—

स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम् ।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति दीनताम् ।।

अर्थात् स्त्री-पुत्रादि में स्नेह से, धन के लोभ से, मणियों और स्त्री आदि के लोभ से चित्त दीनता को प्राप्त होता है ।।

बन्धो हि वासनाबन्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः ।
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज ।।

चित्त में अनेक प्रकार के भोगों की वासना ही पुरुष के बंधन का कारण है । समग्र-रूप से वासना के क्षय हो जाने का नाम ही मोक्ष है । हे राम ! जब तुम वासना का त्याग करोगे और मोक्ष की इच्छा न करोगे, तव सुखी हो जाओगे ।

प्रश्न–आपने कहा है कि जब तक चित्त में वासनाएँ भरी हुई हैं, तब तक इसकी मुक्ति कदापि नहीं होती है, वह संसार में निर्वासनिक पुरुष तो कोई भी नहीं दिखाई देता है, क्योंकि जितने गृहस्थाश्रमी हैं, उनके चित्त में स्त्री, पुत्र-

धनादिकों की प्राप्ति की वासनाएँ भरी रहती हैं। यदि कोई पुरुष ईश्वर का स्मरण और दानादिकों को करता है, तो उसके चित्त में यही कामना रहती है कि मेरे धनादि सर्वदा बने रहें, निर्वासनिक होकर कोई भी नहीं करता है। और जितने त्यागी, साधु और महात्मा कहलाते हैं, उनके चित्त में भी अनेक प्रकार की कामनाएँ भरी हुई हैं। कोई मठों को बनाता है, कोई सेवकों को बढ़ाता है, निर्वासनिक तो उनमें भी कोई नहीं दिखाई देता है। यदि निर्वासनिक होवें, तो वेषों को, चेलों को और मठों को क्यों बढ़ावें, और क्यों प्रपंच को फैलावें, अतएव सब कोई प्रपंच को फैलाते हैं—क्या गृहस्थ, क्या संन्यासी। इस हालत में कोई भी ज्ञानी नहीं सिद्ध होता है। ज्ञानी के अभाव होने से मुक्ति का भी अभाव ही सिद्ध होता है ?

उत्तर–जैसे एक वन में एक ही सिंह रहता है और स्यार मृगादिक लाखों रहते हैं वैसे ही संसार-रूपी, गृहस्थाश्रम-रूपी, अथवा संन्यासाश्रम-रूपी वन में वासना से रहित ज्ञानवान् कोई एक विरला ही होता है और वासना से भरे हुए अनेक होते हैं। जैसे सिंह के मारे हुए शिकार को स्यार आदि खाते हैं, वैसे निर्वासनिक पुरुषों के चिह्नों को धारण करके अर्थात् ज्ञान की बातें सुना करके और वैराग्यादिकों को दिखलाकर, बहुत से मूर्खों को वञ्चक सन्यासी या गृहस्थ आचार्यादि ठगते हैं, वे ही संसार के स्यार हैं। इसमें एक दृष्टान्त को कहते हैं—

एक ग्राम में जुलाहे बसते थे। उन्होंने आपस में एक दिन सलाह किया कि चलो, रात्रि को क्षत्रियों के ग्राम को लूट

लावें। तदनुसार सब जुलाहे मिलकर रात्रि को क्षत्रियों के ग्राम को लूटने गये। जब क्षत्रिय लोग हथियार लेकर जुलाहों को मारने को दौड़े, तब जुलाहे सब भागे। उनमें से एक जुलाहे ने कहा कि भाइयो! भागे तो जाते ही हो, भला मारो-मारो तो कहते चलो। वे सब जुलाहे भागते जाते और मारो-मारो भी कहते जाते थे।

दृष्टान्त में यह है कि बहुत से बनावट के ज्ञानी ज्ञान के साधनों से भागे तो जाते हैं, पर औरों से ऐसा कहते जाते हैं कि वासना को त्यागो, ज्ञान को धारण करो, सब संसार मिथ्या है, ऐसे दम्भी ज्ञानी नहीं हो सकते हैं। जो समग्र वासनाओं से रहित हैं, वे ही ज्ञानी हैं। वासनावाला ही बन्ध को प्राप्त होता है॥ १॥

मूलम्।

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति।
न मुञ्चति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति॥ २॥

पदच्छेदः।

तदा, मुक्तिः, यदा, चित्तम्, न, वाञ्छति, न, शोचति, न, मुञ्चति, न, गृह्णाति, न, हृष्यति, न, कुप्यति॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
यदा	जब
चित्तम्	मन
न वाञ्छति	न चाहता है
न शोचति	न शोक करता है
न मुञ्चति	न त्यागता है
न गृह्णाति	न ग्रहण करता है
न हृष्यति	न प्रसन्न होता है
+च	और
न	न
कुप्यति	दुःखित होता है
तदा	तभी
मुक्तिः	मुक्ति है॥

भावार्थ ।

जिस काल में चित्त न भोगों की प्राप्ति की इच्छा करता है, और न शोकों के त्याग की इच्छा करता है, अर्थात् पदार्थ के पाने पर न उसको हर्ष होता है, और न प्यारे सम्बन्धियों के नष्ट या वियोग हो जाने पर शोक होता है, किन्तु एक-रस सदा ज्यों का त्यों बना रहता है, उसी काल में वह पुरुष मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥

मूलम् ।

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु ।
तदा मोक्षो यदा चित्तमासक्तं सर्वदृष्टिषु ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

तदा, बन्धः, यदा, चित्तम्, सक्तम्, कासु, अपि, दृष्टिषु, तदा, मोक्षः, यदा, चित्तम्, आसक्तम्, सर्वदृष्टिषु ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यदा	जब
चित्तम्	मन
कासु	किसी
दृष्टिषु	दृष्टि में अर्थात् विषय में
सक्तम्	लगा हुआ है
तदा	तब
बन्धः	बंध है
अपि	और
यदा	जब
चित्तम्	मन
सर्वदृष्टिषु	सब दृष्टियों में अर्थात् सब विषयों में से किसी भी विषय में
आसक्तम्	आसक्त नहीं है
तदा	तब
मोक्षः	मुक्ति है ॥

भावार्थ।

पहले एक वाक्य से बन्ध के लक्षण को कहा और दूसरे वाक्य से मुक्ति के लक्षण को कहा। अब एक ही वाक्य से बन्ध और मोक्ष दोनों का कथन करते हैं—

जब चित्त अनात्मपदार्थों में अनात्माकारवृत्तिवाला होता है, तभी इसको बन्ध होता है। जब चित्त विषयाकार नहीं होता है अर्थात् आसक्ति से रहित होकर सर्वत्र आत्म दृष्टि-वाला होता है, तभी जीव मुक्त कहा जाता है।

प्रश्न—आपने कहा है कि जिस काल में चित्त विषयों में आसक्त होता है, तब बन्ध होता है और जब अनासक्त होता है, तब मुक्त होता है। यदि एक ही चित्त में कालभेद से बन्ध और मोक्ष माना जावेगा, तब मुक्ति भी अनित्य हो जावेगी ?

उत्तर—उस वाक्य का यह तात्पर्य नहीं है, जो आपने समझा है, किन्तु उसका यह तात्पर्य है कि आत्म-ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व जितने काल तक पुरुष का चित्त विचार से शून्य होकर विषयों में आसक्त रहता है, उतने काल तक जीव बन्ध में ही पड़ा रहता है। पश्चात् जब विचार से युक्त हुआ, रचित दोष-दृष्टि करके विषयों में आसक्ति से रहित हो जाता है, और फिर विषय-वासना का बीज भी चित्त में नहीं रहता है, तब फिर वह मुक्त होकर कदापि बन्ध को नहीं प्राप्त होता है। जैसे भूँजे हुए बीज में फिर अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रहती है, वैसे ही निर्वासनिक चित्तवाला पुरुष कभी भी जन्म को नहीं प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा ।
मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्च मा ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

यदा, न, अहम्, तदा, मोक्षः, यदा, अहम्, बन्धनम्, तदा, मत्वा, इति, हेलया, किञ्चित्, मा, गृहाण, विमुञ्च, मा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यदा	जब	इति	इस प्रकार
अहम्	मैं हूँ	मत्वा	मान करके
तदा	तब	हेलया	इच्छा से
बन्धनम्	बन्ध है	मा	मत
यदा	जब	गृहाण	ग्रहण करो
अहम् न	मैं नहीं हूँ	मा	मत
तदा	तब	विमुञ्च	त्याग करो
मोक्षः	मोक्ष		

भावार्थ ।

जब तक पुरुष में अहंकार बैठा है—'मैं ब्राह्मण हूँ', मैं ज्ञानी हूँ', 'मैं त्यागी हूँ', तब तक वह मुक्त कदापि नहीं हो सकता है। ऐसा भी कहा है—

यावत्स्यात्त्वस्य सम्बन्धोऽहंकारेण दुरात्मना ।
तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षणा ॥

अर्थात् तब तक इस जीव का सम्बन्ध दुरात्मा अहंकार के

साथ बना रहता है, तब तक मुक्ति लेश-मात्र इसको प्राप्त नहीं होती है।

इसी वार्ता को कहते हैं—

जब तक जीव का शरीरादि से अहंकाराध्यास बना है, तब तक इसकी मुक्ति कदापि नहीं हो सकती है। जिस काल में अहंकाराध्यास इसका निवृत्त हो जाता है, उसी काल में बिना ही परिश्रम अकर्ता अभोक्ता होकर मुक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायामष्टमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ८ ॥

—:०:—

नवाँ प्रकरण ।

—:o:—

मूलम् ।

कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा ।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्यागपरोऽव्रती ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

कृताकृते, च, द्वन्द्वानि, कदा, शान्तानि, कस्य, वा, एवम्, ज्ञात्वा, इह, निर्वेदात्, भव, त्यागपरः, अव्रती ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
कृताकृते	कृत और अकृत कर्म
च	और
द्वन्द्वानि	दुःख और सुख
कस्य	किसके
कदा	कब
शान्तानि	शान्त हुए हैं
एवम्	इस प्रकार
वा	संशय रहित
ज्ञात्वा	जान करके
इह	इस संसार में
निर्वेदात्	वैराग्य से
अव्रती	व्रत रहित होता हुआ
त्यागपरः	त्याग परायण
भव	हो ॥

भावार्थ ।

अब निर्वेदाष्टक नामक नवम प्रकरण का आरम्भ करते हैं—

पहले शिष्य ने जो गुरु के प्रति अपना अनुभव कहा था, उसकी दृढ़ता के लिये अब आठ श्लोकों से वैराग्य के स्वरूप को दिखाते हैं ।

प्रश्न—त्याग कैसे करना चाहिए ?

उत्तर—यह मेरा कर्त्तव्य है, और यह मेरा कर्त्तव्य नहीं है, इसी का नाम कृत और अकृत है अर्थात् इस तरह का जो आग्रह है अर्थात् अवश्य ही मुझको यह करना उचित है, और अवश्य ही मुझको यह करना उचित नहीं है, इन दोनों में अभिनिवेश अर्थात् हठ न करना और द्वन्द्व जो सुख-दुःख हैं, मैं इन दोनों से रहित हो जाऊँ इसमें आग्रह न करना, क्योंकि वे दोनों किसी भी देहधारी के कभी शान्त नहीं हुए हैं और न होंगे, इस वास्ते अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! इन कृताकृत आदि के त्याग से भी तुम वैराग्य को प्राप्त हो। क्योंकि हे शिष्य ! तुम अव्रती हो, तुम्हारा आग्रह अर्थात् हठ किसी में भी नहीं है ॥ १ ॥

मूलम् ।

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात् ।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गता ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

कस्य, अपि, तात, धन्यस्य, लोकचेष्टावलोकनात्, जीवितेच्छा, बुभुक्ष, च, बुभुत्सा, उपशमम्, गता ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
तात	हे प्रिय	जीवितेच्छा	जीने की इच्छा
लोकचेष्टावलोकनात्	उत्पत्ति और विनाश रूप लोकों की चेष्टा के देखने से	च	और
कस्य	किसी	बुभुक्षा	भोगने की इच्छा
धन्यस्य	महात्मा की	च	और
अपि	भी	बुभुत्सा	ज्ञान की इच्छा
		उपशमम्	शान्ति को
		गता	प्राप्त हुई है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते है कि हे शिष्य ! हजारों मनुष्यों में से किसी एक भाग्यशाली पुरुष के चित्त में वैराग्य उत्पन्न होता है। उसके जीने की और भोगने की इच्छा भी निवृत्त हो जाती है। क्योंकि संसार के पदार्थों में ग्लानि और दोष-दृष्टि का नाम ही वैराग्य है। जितने संसार के उत्पत्ति और नाशवाले पदार्थ हैं, सबमें दोष लगे हैं। संसार में स्त्री, पुत्र, धन और शरीर तथा इन्द्रिय आदि सबको प्यारे हैं, और इन्हीं के सुख के लिये पुरुष अनेक अनर्थों को करता है, और ये ही सब जीवों के बन्ध के कारण हैं, इस वास्ते बिना इनमें वैराग्य प्राप्त हुए कदापि मोक्ष को नहीं प्राप्त होता है, इसी लिए प्रथम इन्हीं में दोष-दृष्टि को दिखाते हैं। 'योगवाशिष्ठ' में कहा है—

गर्भे दुर्गन्धिभूयिष्ठे जठराग्निप्रदीपिते ।
दुःखं मयाप्तंयत्तस्मात्कनीयः कुम्भिपाकजम् ॥

अर्थात् बड़ी भारी दुर्गन्धि करके युक्त जो माता का उदर है, और जो जठराग्नि से प्रदीप्त है, उस गर्भ में आकर जो जीव को दुःख होता है, उससे कुम्भीपाक नरक का भी दुःख कम है ॥

एवं 'गर्भोपनिषद्' में भी गर्भ के दुःखों का वर्णन किया है कि जिस काल में गर्भ में जीव अति दुःखी होता है, तो ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! इस बार मैं जन्म लेकर अवश्य ही ज्ञान के साधनों को करूँगा, पर जन्म लेकर फिर यह जीव

संसार के भोगों में फँस जाता है और गर्भवाले दुःखों को भूल जाता है, इसी कारण फिर बार-बार जन्मता और मरता है। 'शिव-गीता' में मरण के दुःखों को भी दिखाया है—

हा कान्ते हा धनं पुत्राः क्रन्दमानः सुदारुणम् ।
मण्डूक इव सर्पेण मृत्युना गीर्यते नरः ॥

अर्थात् जब जीव प्राणों को त्यागने लगता है, तब पुकारता है हे भार्ये ! हे धन ! हे पुत्रो ! मुझको इस मृत्यु से छुड़ाओ, ऐसे भयानक शब्दों को करता है जैसे सर्प के मुख में पड़ा हुआ मेढक पुकारता है ॥

अयः पाशेन कालस्य स्नेहपाशेन बन्धुभिः ।
आत्मानं कृष्यमाणस्य न खल्वस्ति परायणम् ॥

अर्थात् मरण-काल में यह जीव इधर तो काल के पाशों करके बँधा होता है, उधर सम्बन्धियों के स्नेह की रस्सियों करके खींचा हुआ होता है, पर कोई भी मृत्यु से इसकी रक्षा नहीं कर सकता है ॥

या माता सा पुनर्भार्या या भार्या जननी हि सा ।
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ॥

अर्थात् पूर्व जन्म में जो माता होती है, वही पुत्र में स्नेह के कारण उत्तर जन्म में उसकी स्त्री बनती है। जो पूर्व जन्म में स्त्री होती है, वही उत्तर जन्म में माता होती है। जो पूर्व जन्म में पिता होता है, वही उत्तर जन्म में पुत्र होता है। जो पूर्व जन्म में पुत्र होता है, वही उत्तर जन्म में पिता होता है ॥

एको यदा व्रजति कर्मपुरःसरोऽयं
विश्रामवृक्षसदृशः खलु जीवलोकः ।
सायंसायं वासवृक्षं समेतः
प्रातःप्रातस्तेन तेन प्रयान्ति ॥

जैसे सायंकाल में इधर उधर से पक्षी उड़कर एक ही वृक्ष पर रात्रि को विश्राम के लिए इकट्ठे हो जाते हैं और प्रातःकाल में सब इधर उधर उड़ जाते हैं, वैसे ही इस संसार-रूपी वृक्ष में सब जीव कर्मों के वश्य होकर इकट्ठे हो जाते हैं, फिर प्रारब्ध-कर्म के भोग के पूरे होने पर, सब अकेले-अकेले होकर चले जाते हैं। कोई भी स्त्री, पुत्र, धनादि इसके साथ नहीं जाते हैं, और न साथ आते हैं, इस तरह विचार करके इनमें मोह को कदापि न करे।

एवं 'देवी-भागवत' में शुकदेवजी ने स्त्री के सम्बन्ध से दोष दिखाये हैं—

नरस्य बन्धुनार्थाय शृङ्खला स्त्री प्रकीर्त्तिता ।
लोहबद्धोऽपि मुच्येत स्त्रीबद्धो नैव मुच्यते ॥

पुरुष के बन्धन का हेतु स्त्री को ही बेड़ीरूप से कहा है। एवं लोहे की बेड़ी से बँधा हुआ पुरुष छूट जाता है, परन्तु स्त्री के स्नेह-रूपी पाश से बाँधा हुआ पुरुष कदापि छूट नहीं सकता है। इसी पर एक दृष्टान्त देते हैं—

एक लड़का बाल्यावस्था में संन्यासी हो गया। जब जवान हुआ, तब तीर्थयात्रा के लिए जाता था। रास्ते में उधर से एक

बरात आती थी। वह संन्यासी खड़ा हो गया और उसने पूछा, यह क्या है ? लोगों ने कहा, यह बरात है। यह जो लड़का घोड़ी पर सवार है, इसकी शादी एक लड़की से होगी। तब उसने पूछा, फिर क्या होगा, तो कहा, जब इसकी स्त्री इसके घर में आवेगी, तब दोनों आपस में विषयानंद को प्राप्त होंगे। फिर स्त्री के लड़के पैदा होंगे। इतना सुनकर वह संन्यासी चला गया। रास्ते में एक कुएँ पर छाया में सो रहा तब उसने स्वप्न देखा कि मेरी शादी हुई है, स्त्री आई है और मैं उसके साथ सोया हूँ। उस स्त्री ने कहा, थोड़ा सा पीछे हटो। जब वह हटने लगा, तब वह धम्म से कुएँ में गिर पड़ा। गिरने की आवाज को सुनकर लोग दौड़कर कहने लगे कि किसने तुझको कुएँ में गिरा दिया है ? उसने कहा, स्वप्न की स्त्री ने मुझ को कुएँ में गिरा दिया है, न मालूम जाग्रत की स्त्री पुरुषों की क्या दुर्दशा करती होगी। तात्पर्य यह है कि विवेकी के लिए स्त्री साक्षात् नरक का कुण्ड है।

प्रश्न—हे भगवन् ! कर्मकाण्डी कहते हैं कि जिसके पुत्र नहीं है, उसकी गति भी नहीं होती है, इस वास्ते येन केन उपाय करके पुत्र उत्पन्न करना चाहिए, ऐसा 'देवी-भागवत' में लिखा है।

उत्तर—हे प्रियदर्शन ! यह जो तुमने कहा है कि अपुत्र की गति नहीं होती है, वह गति शब्द का क्या अर्थ है। गति शब्द का अर्थ मोक्ष करते हो वा दोनों लोकों का सुख करते हो। यदि गति शब्द का अर्थ मोक्ष करो, तब सब पुत्रवालों की मुक्ति होनी चाहिए और मनुष्य, पशु आदि सभी ज्ञान के

बिना ही मुक्त हो जावेंगे और शुकदेव, वामदेवादि की मुक्ति शास्त्रों में लिखी है, न होनी चाहिए, क्योंकि उनके कोई पुत्र नहीं था, इसलिये पुत्र से गति कहनेवाले वाक्य अर्थवाद-रूप हैं। लोगों ने पुत्र के सम्बन्ध से बड़े दुःख उठाये हैं। राजा दशरथ ने रामजी के वियोग में प्राणों को त्याग दिया था। प्रथम तो पुत्र के उत्पन्न होने की चिंता, फिर उसके जीने की चिंता, फिर उसके विवाह और सन्तति की चिन्ता जन्म भर बनी रहती है। बड़े होने पर पिता की वृद्धावस्था में पुत्र धनादिकों को ले लेते हैं, और सेवा आदि कुछ भी नहीं करते हैं, अतएव पुत्र भी विवेकी पुरुष के लिए दुःख के हेतु हैं। इसी तरह और भी जितने विषय हैं, वह सब दुःख के ही कारण हैं। 'विवेक-चूड़ामणि' में कहा है—

विषयाशामहापाशात् यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात्।
स एकः कल्पते मुक्त्ये नान्ये षट्शास्त्रवेदिनः ॥

अर्थात् स्त्री पुत्र धनादि विषय महान् पाश हैं जिनका त्यागना अति कठिन है। जो पुरुष उन पाशों से रहित है, वही मुक्ति का अधिकारी है। दूसरा षट्शास्त्रों का जाननेवाला पुरुष भी मोक्ष का अधिकारी नहीं है ॥

इसी पर अष्टावक्रजी कहते हैं कि संपूर्ण विषयवासनाओं से रहित संसार में, लाखों में कोई एक ही वैराग्यवान् जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ २ ॥

मूलम् ।

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति ॥ ३ ॥

अनित्यम्, सर्वम्, एव, इदम्, तापत्रितयदूषितम्, असारम्, निन्दितम्, हेयम्, इति, निश्चित्य, शाम्यति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
इदम् सर्वम्	यह सब
अनित्यम्	अनित्य है
तापत्रितय-दूषितम्	तीनों तापों से दूषित है
असारम्	सार-रहित है
निन्दितम्	निंदित है
हेयम्	त्यागने योग्य है
इति	ऐसा
निश्चित्य	निश्चय करके
शाम्यति	शान्ति को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—ज्ञानी की सर्वत्र इच्छा के उपशम में क्या कारण है ?

उत्तर—जितना कि दृष्टि का विषय-प्रपंच है, वह सब अनित्य है अर्थात् चेतन में अध्यस्त है ।

प्रश्न—यह प्रपंच कैसा है ?

उत्तर—आध्यात्मिक आदि तापों से दूषित है । वात, पित्त, श्लेष्मादि निमित्त जो दुःख होता है, उसका नाम आध्यात्मिक दुःख है अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्षा, आदि से जो मानस दुःख है, उसी का नाम आध्यात्मिक दुःख है । और जो मनुष्य, पशु, सर्प, वृक्षादि निमित्तक दुःख है, उसका नाम आधिभौतिक दुःख है । यक्ष, राक्षस, विनायकादि निमित्तक जो दुःख है, उसका नाम आधिदैविक दुःख है ।

इन तीन प्रकार के दुःखों से पुरुष सदैव संतप्त रहता है । इसी वास्ते यह सब प्रपंच असार है, तुच्छ है, त्यागने—

योग्य है, ऐसा जानकर ज्ञानवान् किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं करता है ।। ३ ।।

मूलम् ।

कोऽसौ कालो वयः किं वा यत्र द्वन्द्वानि, नो नृणाम् ।
तान्युपेक्ष्य यथा प्राप्तवर्त्ती सिद्धिमवाप्नुयात् ।। ४ ।।

पदच्छेदः ।

कः, असौ, कालः, वयः, किम्, वा, यत्र, द्वन्द्वानि, नो, नृणाम्, तानि, उपेक्ष्य, यथा, प्राप्तवर्ती, सिद्धिम्, अवाप्नुयात् ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यत्र	जिसमें
नृणाम्	मनुष्यों को
द्वन्द्वानि नो	सुख और दुःख न हो
असौ	वह
कः	कौन
कालः	काल है
वा	और
किम्	कौन
वयः	अवस्था है ।।
अपि तु न कोऽपि	अर्थात् कोई नहीं
तानि	उन सबको
उपेक्ष्य	विस्मरण करके
यथाप्राप्तवर्ती	यथा प्राप्त वस्तुओं में वर्तनेवालापुरुष
सिद्धिम्	सिद्धि अर्थात् मोक्ष को
अवाप्नुयात्	प्राप्त होता है ।।

भावार्थ ।

पुरुषों को सुख दुःखादि द्वन्द्व किसी खास काल या अवस्था में नहीं व्यापता है, किन्तु सब अवस्थाओं में और सर्व कालों में सुख-दुःखादिक द्वन्द्व देहधारी को बराबर बने रहते हैं । इसी वार्ता को रामजी ने अध्यात्म रामायण में कहा है—

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
द्वयमेतद्धि जन्तूनामलंघ्यं दिनरात्रिवत् ।।

सुख के अनन्तर दुःख होता है, और दुःख के अनन्तर सुख होता है; ये दोनों निश्चय ही जीव को अलंघ्य हैं, अर्थात् हटाये नहीं जा सकते हैं ।।

सुखमध्ये स्थितं दुःखं दुःखमध्ये स्थितम् सुखम् ।
द्वयमन्योन्यसंयुक्तं प्रोच्यते जलपंकवत् ।।

सुख में दुःख, और दुःख में सुख स्थित है, अर्थात् क्षणमात्र सुख के देनेवाले विषयों से अनेक रोगादि दुःख उत्पन्न होते हैं, और उपवासादिक व्रतों से जिसमें दुःख होता है, फिर विषयों की प्राप्ति-रूपी सुख होता है। ये दोनों सुख दुःख ऐसे मिले हैं, जैसे पानी और कीच मिले होते हैं ।।

किसी भी देहधारी से ये सुख-दुःख किसी काल में त्यागे नहीं जा सकते हैं, इस वास्ते विवेकी पुरुष उन सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में भी इच्छा को त्यागकर शरीर को प्रारब्ध आश्रित छोड़ देता है ।।

मूलम् ।

नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा ।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः ।। ५ ।।

पदच्छेदः ।

नाना, मतम्, महर्षीणाम्, साधूनाम्, योगिनाम्, तथा, दृष्ट्वा, निर्वेदम्, आपन्नः, कः, न, शाम्यति, मानवः ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
नाना मतम्=	नाना प्रकार के मत
महर्षीणाम्=	महर्षियों के
तथा=	और
योगिनाम्=	योगियों के
इति=	ऐसा
दृष्ट्वा=	देख करके
निर्वेदम्=	वैराग्य को
आपन्नः=	प्राप्त हुआ
कः मानवः=	कौन पुरुष
न शाम्यति=	नहीं शान्ति को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

हे शिष्य ! 'तर्क-शास्त्र' को, और कर्मकाण्ड में निष्ठा को, त्याग करके केवल आत्म-ज्ञान में ही निष्ठा करना चाहिए । क्योंकि तर्क-शास्त्रादि सब बुद्धि को भ्रमित करनेवाले हैं ।

गौतम आदि के जो मत हैं, वे वेद और युक्ति-प्रमाण से विरुद्ध हैं, केवल भ्रम-जाल में डालनेवाले हैं । गौतम आदि के मत पर चलनेवाले नैयायिक ईश्वर-आत्मा और जीव-आत्मा, दोनों को जड़ मानते हैं और ज्ञान, इच्छा आदि को आत्मा का गुण मानते हैं । फिर ईश्वरात्मा के गुणों को नित्य मानते हैं । जीवात्मा के गुणों को अनित्य मानते हैं । और सारे जीवात्मा को व्यापक मानते हैं । आत्मा के संयोग को ज्ञान के प्रति कारण मानते हैं । परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं । फिर परमाणुओं को निरवयव मानते हैं ।

प्रथम तो जीवात्मा और ईश्वरात्मा जड़ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म

आत्मा सत्य-रूप, ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-रूप है। इस श्रुति के साथ विरोध आता है। दूसरा, दोनों ईश्वर आत्मा के जड़ मानने से जगदांध प्रसंग होगा।

यदि यह मान लिया जाय कि कर्म जड़ है, आत्मा जड़ है, ईश्वरात्मा भी जड़ है, तो फिर भोक्ता, कर्ता और फलप्रदाता कोई भी नहीं होगा। क्योंकि जड़ में भोक्तृत्व, कर्तृत्व आदि शक्ति बनती नहीं, और जड़ के गुण ज्ञान और चेतनता बन नहीं सकते, क्योंकि गुण-गुणी का भेद नहीं होता। जैसे अग्नि और उष्णता; जल और शीतलता का भेद नहीं है। यदि अग्नि से उष्णता और प्रकाश निकाल लिया जाय, तो अग्नि में कोई वस्तु बाकी नहीं रहती है, और दोनों जड़ भी हैं। जैसे अग्नि के स्वरूप उष्ण और प्रकाश हैं वैसे ज्ञान और चेतनता भी दोनों आत्मा के स्व-रूप ही हैं, आत्मा के धर्म नहीं हैं। क्योंकि गुण-गुणी भाव आत्मा में कहीं भी नहीं लिखा है और चेतनता जड़ का धर्म है, इसमें कोई भी दृष्टांत नहीं मिलता है, इसलिये नैयायिक का कथन असंगत है।

यदि ईश्वर के इच्छादि गुणों को नित्य माना जाय, तो ईश्वर की इच्छानुसार जगत् की उत्पत्ति अथवा प्रलय सर्वदा हुआ करेगी अर्थात् दोनों में से एक ही होगा, दोनों नहीं होंगे।

यदि यह माना जाय कि दोनों कभी प्रलय, कभी सृष्टि होगी, तब ईश्वर की इच्छा अनित्य हो जावेगी।

सारे जीवात्मा व्यापक भी नहीं हो सकते हैं, यदि ऐसा

मान, तो एक के शरीर में जगत् भर के जीवात्मा बैठे हैं, और सब जीवात्माओं के साथ उसके मन के संयोग बने रहने से उसको सर्वज्ञता होनी चाहिए, इस कारण सबको सर्वज्ञता होनी चाहिए, वह तो होती नहीं है, इसी से सिद्ध होता है कि जीवात्माओं को व्यापक मानना युक्ति-प्रमाण से विरुद्ध है, और परमाणुओं से जड़ जगत् की उत्पत्ति भी नहीं बनती है, क्योंकि निरवयव परमाणुओं का परस्पर संयोग बनता नहीं, सावयव पदार्थों का ही परस्पर संयोग बनता है, युक्ति-प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण नैयायिक का मत विवेकी को त्यागने-योग्य है। इसी तरह कर्म-निष्ठा-वाले कर्मियों के मत में भी विवेकी को श्रद्धा न करनी चाहिए, क्योंकि उनके मत में भी नाना प्रकार के झगड़े लगे हैं। कोई कर्मी होम को ही मुख्य मानते हैं, कोई मन्त्रों के जपादि को ही प्रधान मानते हैं, कोई कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतों के करने को ही धर्म मानते हैं, कोई यज्ञों में पशुओं की हिंसा को ही धर्म मानते हैं, कोई मूर्ति-पूजा को, कोई तीर्थाटन को धर्म मानते हैं। कर्मजाल इतना बड़ा भारी है कि यदि एक आदमी प्रत्येक दिन एक-एक कर्म को करे, तब भी उसके सारी उम्र में सारे कर्म समाप्त नहीं होंगे और घटीयन्त्र की तरह अधोर्ध्व अर्थात् नरक, स्वर्ग का हेतु कर्म-रूपी जाल है। इसी पर कहा है—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यत्तपःपारदर्शिनः ॥

अर्थात् कर्मों से जीव बन्ध को प्राप्त होता है, और आत्म-

विद्या करके वह मोक्ष को प्राप्त होता है, इसलिये विवेकी आत्म-ज्ञानी कर्मों को नहीं करते हैं, किन्तु आत्म-निष्ठा में ही मग्न रहते हैं ॥

जैमिनि आचार्य का मत भी श्रुति-युक्ति से विरुद्ध है, क्योंकि जैमिनि आत्मा को जड़, चेतन उभय-रूप मानते हैं, और स्वर्ग की प्राप्ति को ही मोक्ष मानते हैं।

एक ही पदार्थ जड़, चेतन उभय-रूप नहीं हो सकता है। क्योंकि इसमें कोई भी दृष्टान्त नहीं मिलता है। फिर चेतन निरवयव है, और जड़ सावयव और अनित्य है। शीत, उष्ण जैसे परस्पर विरोधी हैं, वैसे ही उभय-रूप जड़, चेतन भी विरोधी हैं। और वेद में भी कहीं आत्मा को उभय-रूपता नहीं लिखी है, और न स्वर्ग की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है।

तद्यथेह कर्मचित्तो लोकः क्षीयत एवममुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।

श्रुति कहती है कि जैसे इस लोक में कर्मों करके प्राप्त की हुई खेती काल पा करके नष्ट हो जाती है, वैसे ही पुण्यकर्मों से प्राप्त हुआ स्वर्ग भी नष्ट हो जाता है। इन श्रुतिवाक्यों से स्वर्ग की अनित्यता सिद्ध होती है और जब स्वर्ग ही अनित्य है, तो मुक्ति भी अनित्य अवश्य होगी। इस वास्ते जैमिनि का मत आत्म-ज्ञान निष्ठावाले को त्यागना चाहिए ॥ ५ ॥

मूलम्।

कृत्वा मूर्त्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः।
निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

कृत्वा, मूर्तिपरिज्ञानम्, चैतन्यस्य, न, किम्, गुरुः, निर्वेद-समतायुक्त्या, यः, तारयति, संसृतेः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निर्वेदसमता-युक्त्या	वैराग्य, समता और युक्ति द्वारा
चैतन्यस्य	चैतन्य के
मूर्तिपरिज्ञानम्	मूर्ति के ज्ञान को
कृत्वा	जानकर
यः	जो
संसृतेः	संसार से
+स्वम्	अपने को
तारयति	तारता है
किम्	क्या
सः	वह
गुरुः न	गुरु नहीं है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! जिसने विषय-वासना को त्याग करके शत्रु और मित्र में समबुद्धि करके, और श्रुति के अनुकूल युक्ति से सच्चिदानन्द-रूप अपनी आत्मा का साक्षात्कार किया है, और जिसने अपने को ही सर्वरूप से अनुभव किया है, उसने संसार से अपने को तारा है, दूसरे ने नहीं। हे जनक ! तुम अपने ही पुरुषार्थ से मुक्त होगे, दूसरे के द्वारा करके नहीं ।

प्रश्न—संसार में लोग कहते हैं कि गुरु शिष्य को मुक्त कर देता है । आप उसके विरुद्ध ऐसा कहते हैं कि शिष्य अपने पुरुषार्थ से ही मुक्त होता है, यह क्या बात है ?

उत्तर—हे प्रियदर्शन ! संसार के लोग प्रायः अज्ञानी मूर्ख होते हैं, वे शास्त्र के तात्पर्य को और गुरु-शिष्य शब्दों के अर्थ को नहीं जानते हैं । क्योंकि वे कामना से युक्त होते हैं । जैसे कि

मुसलमानों ने मान रक्खा है कि पैगम्बर हमको पापों से छुड़ा देगा एवं जैसे ईसाइयों ने मान रक्खा है कि ईसा हमको पापों से छुड़ा देगा वैसे ही और भी संसारी लोगों ने मान रक्खा है कि गुरु हमको पापों से छुड़ा देगा, ऐसा उनका मानना दुःख का जनक है। क्योंकि वेद और शास्त्र में कान में मंत्र फूँकनेवाले को गुरु नहीं लिखा है, किन्तु जो अज्ञान और ज्ञान के कार्य जन्म-मरण-रूपी संसार से आत्म-ज्ञान उपदेश करके छुड़ा देवें, और चित्त के संशयों को दूर कर देवें, उसका नाम गुरु है, मन्त्र फूँकने-वाले का नाम गुरु नहीं है। रामचन्द्रजी ने वशिष्ठजी के प्रति हजारों शंकाएं की थीं और जब सबका उत्तर वशिष्ठजी ने देकर रामजी को संशयों से रहित करके आत्मा का बोध करा दिया, तब रामजी ने वशिष्ठजी को गुरु माना। अर्जुन ने श्रीकृष्णजी के प्रति हजारों शंकाएँ की थीं। जब अर्जुन को भगवान् ने विराट्-रूप दिखाया तब उनको अर्जुन ने गुरु माना। इसी तरह और भी पूर्व जितने श्रेष्ठ पुरुष हुए हैं, उन्होंने चित्त के सन्देह दूर करने वाले को ही गुरु माना है। अतः व्यवहार-दृष्टि से ही माना है, आत्म-दृष्टि से नहीं माना है। क्योंकि आत्म-दृष्टि में आत्मा का भेद नहीं है।

अष्टावक्रजी ने आत्म-दृष्टि को ले करके कहा है कि संसारी मूर्ख कान में मंत्र फूँकनेवाले गुरु के ही अज्ञानार्थ शिष्य पूरे पशु बन जाते हैं, क्योंकि उनको बोध नहीं है कि पारमार्थिक गुरु आत्म-ज्ञानी का ही नाम है। ऐसे गुरु तो संसार में बहुत दुर्लभ हैं। दूसरा गुरु गायत्री के मन्त्र

देनेवाला है। तीसरा गुरु व्यावहारिक विद्या का पढ़ानेवाला है। चौथा सत्सङ्ग गुरु है।

विद्या-दाता हजारों अक्षरों को पढ़ाता है, पशु से मनुष्य बनाता है, फिर भी लोग उसके उपकार को नहीं मानते हैं। जो दो चार अक्षरों के मन्त्र को कान में फूँक देता है, उसी के पूरे पशु बन जाते हैं। उसके उपदेश से कोई संशय दूर नहीं होता है, बल्कि उल्टी भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है। कोई विष्णु का मन्त्र देकर महादेव से विरोध करा देता है, कोई विष्णु से विरोध कराता है, कोई देबी का पशु बना देता है। कनफुकवे गुरु तो आप ही भेदवाद-रूपी कीच में फँसे हैं और शिष्यों को भी फँसाते हैं। अपनी जीविका के लिये शिष्यों के घरों में भिखारियों की तरह मारे-मारे फिरते हैं। जैसे वे मूर्ख हैं, वैसे उनके शिष्य भी मूर्ख हैं। क्योंकि जो सत् महात्मा संशयों का नाश करते हैं, उनकी वह सेवा-पूजा नहीं करते हैं। जो मूर्ख कनफुकवे गुरु संशयों में डालते हैं, उन्हीं की पूरी सेवा करते हैं।

जब गुरु ही मोक्षमार्ग को नहीं जानते हैं, तब शिष्य कैसे जाने। शिष्यों के चित्तों में तो अनेक प्रकार के विषयों की कामनाएँ भरी हैं। उन कामनाओं की पूर्ति के लिये वे मन्त्र लेकर जपते हैं, और जपते-जपते मर जाते हैं, परन्तु कामना किसी की भी पूरी नहीं होती है। इसी पर कबीरजी ने भी कहा है—

दोहा।

गुरु लोभी, शिष लालची, दोनों खेलैं दाँव।
दोनों डूबे बापड़े, बैठ पत्थर की नाव॥

गुरुजन जाका है गृही, चेला गृही जो होय।
कीच कीच को धोवते, दाग न छूटै कोय॥
बंधे को बंधा मिलै, छूटै कौन उपाय।
सेवा कर निर्बंध की, पल में देय छुड़ाय॥

एवं 'गुरु-गीता' में भी अज्ञानी मूर्ख गुरु का त्याग करना ही लिखा है—

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विडम्बकः।
स्वविश्रांतिं न जानान्ति परशांतिं करोति किम्॥

जो गुरु ज्ञान से हीन हो, मिथ्यावादी हो, विडम्बी हो, उसका त्याग कर देना चाहिए। क्योंकि जब वह अपना ही कल्याण नहीं कर सकता है, तो शिष्यों का कल्याण क्या करेगा। ऐसे मूर्ख अज्ञानी गुरु के त्याग में बहुत से शास्त्रोक्त प्रमाण हैं, पर मूर्ख अज्ञानी लोग कुकर्म्मी मूर्ख गुरुओं को नहीं त्यागते हैं, क्योंकि प्रथम तो लोग आत्मा के ही कल्याण को नहीं जानते हैं। दूसरे उनके चित्त में भय रहता है कि गुरु के निरादर करने से हमारे को कोई विघ्न न हो जावे, इसी से मूर्खों के मूर्ख जन्म भर उनके पशु बने रहते हैं। इन मूर्ख शिष्य-गुरुओं का इस जगह में निरूपण करने का कोई प्रकरण नहीं है, इस वास्ते उनका प्रसंग छोड़ दिया जाता है। हे राजन्! ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर गुरु-शिष्य-व्यवहार भी मिथ्या हो जाता है, क्योंकि उसकी भेदबुद्धि नहीं रहती है॥ ६॥

मूलम् ।

पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः ।
तत्क्षणाद्वन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि ॥ ७ ॥

पदच्छेदः ।

पश्य, भूतविकारान्, त्वम्, भूतमात्रान्, यथार्थतः, तत्क्षणात्, बन्धनिर्मुक्तः, स्वरूपस्थः, भविष्यसि ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यदा	जब	तत्क्षणात्	उसी समय
भूतविकारान्	भूतों के कार्य देह, इंद्रिय आदि का	त्वम्	तुम
यथार्थतः	वास्तव में	बन्धनिर्मुक्तः	बंध से छूटा हुआ
भूतमात्रान्	भूत मात्र	स्वरूपस्थः	अपने स्वरूप में स्थित
पश्य	देखेगा	भविष्यसि	होगा ॥

भावार्थ ।

हे जनक ! भूतों के विकार जो देह इन्द्रियादिक हैं, उनको यथार्थ-रूप से तुम भूत-मात्र देखो, आत्म-रूप से उनको तुम मत देखो । जब तुम ऐसे देखोगें, तब उसी क्षण में शरीरादिकों से पृथक् होकर आत्म-स्वरूप में स्थित हो जाओगें और उनका साक्षीभूत आत्मा भी तुमको करामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगेगा ॥ ७ ॥

मूलम् ।

वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्च ताः ।
तत्त्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथा तथा ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

वासनाः, एव, संसारः, इति, सर्वाः, विमुञ्च, ताः, तत्त्यागः, वासनात्यागात्, स्थितिः, अद्य, यथा, तथा ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

वासना एव=वासनाएँ ही
संसार=संसार है
इति=ऐसा
ज्ञात्वा=जानकर
ताः सर्वाः=उन सब वासनाओं को
विमुञ्च=(तू) त्याग
वासनात्यागात्=वासना के त्याग से

अन्वयः । शब्दार्थ ।

तत्त्यागः=उसका अर्थात् संस्कार का त्याग है
अद्य=ऐसा होने पर
यथा=जैसा कर्म है अर्थात् प्रारब्ध है
तथा=उसके अनुसार
स्थितिः=शरीर की स्थिति है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—पूर्वोक्त युक्ति से जब पुरुष आत्मा को जान भी लेगा, तब फिर उसमें उसकी निष्ठा कैसे होवेगी ?

उत्तर—विषयों की जो अनेक वासनाएँ हैं, वही संसार है अर्थात् बंधन है । 'योगवाशिष्ठ' में कहा है—

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च ।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥

वासनाएँ तीन प्रकार की हैं। १—लोक-वासना अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोक की प्राप्ति मुझको हो ।

२—दूसरी शास्त्र-वासना अर्थात् सब शास्त्रों को पढ़कर मैं ऐसा पण्डित हो जाऊँ कि मेरे तुल्य दूसरा कोई न हो ।

३--तीसरी शरीर की वासना अर्थात् मेरा शरीर सबसे सुन्दर और पुष्ट सदैव बना रहे।

इन तीनों प्रकार की वासनाओं के त्याग करने से पुरुष बन्ध से छूट जाता है और उसका चित्त आतमा में भी स्थिर हो जाता है।

प्रश्न—समस्त वासनाओं के त्याग कर देने से शरीर की स्थिति कैसे होगी ?

उत्तर—जैसे दुग्ध पीनेवाले बालक के, और उन्मत्त अर्थात् पागल के शरीर की स्थिति प्रारब्ध-कर्म से होती है, वैसे विद्वान् निर्वासनिक के शरीर की स्थिति भी प्रारब्ध-कर्म के वश से रहती है, परन्तु यह वासना कि शरीर की स्थिति कैसे होगी, इसका त्याग ही करना उचित है।

प्रश्न—यदि पुरुष समग्र वासनाओं का त्याग कर देगा तब आत्म-ज्ञान को भी वह नहीं प्राप्त होगा, क्योंकि मुमुक्षु को आत्म-ज्ञान की प्राप्ति की वासना सर्वदा बनी रहती है और ज्ञानवान् को भी चित्त के निरोध करने की वासना बनी रहती है, फिर जीवन्मुक्त होने की उसको वासना बनी रहती है। सर्व वासनाओं का त्याग तो किसी से भी नहीं हो सकता है।

उत्तर—'वाल्मीकीय रामायण' में ऐसा लिखा है—

वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा।
मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ॥

दो प्रकार की वासनाएँ कही गई हैं--पहली शुद्ध वासना,

दूसरी मलिन वासना। किसी प्रकार से मेरी मुक्ति हो और मैं अपनी आत्मा का साक्षात्कार करूँ, उसके लिये जो वृत्ति आदिकों का निरोध करना है, वह शुद्ध वासना है। विषय भोगों की प्राप्ति की जो वासना है, वह मलिन वासना है। दोनों में से मलिन वासना जन्म का हेतु है और शुद्ध वासना जन्म का नाशक है। जो चतुर्थ भूमिकावाला ज्ञानी है और जो मुमुक्षु है, उनके लिये शुद्ध वासना का त्याग नहीं है, किन्तु मलिन वासना का ही त्याग है। क्योंकि विदेहमुक्ति में आत्म-ज्ञान की ही प्रधानता है। शुद्ध वासना का नाश उपयोगी नहीं है, परन्तु जीवन्मुक्ति के लिए समग्र वासनाओं का त्याग और मन का भी नाश और आत्म-ज्ञान, ये तीनों उपयोगी हैं—

यहाँ पर अष्टावक्रजी जीवन्मुक्ति के सुख के लिए जनकजी से कहते हैं कि तुम समग्र वासनाओं का त्याग करो ॥ ८ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां नवमं प्रकरणं समाप्तम्।

दसवाँ प्रकरण ।

—:०:—

मूलम् ।

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसङ्कुलम् ।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

विहाय, वैरिणम्, कामम्, अर्थम्, च, अनर्थसंकुलम्, धर्मम्, अपि, एतयोः, हेतुम्, सर्वत्र, अनादरम्, कुरु ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
वैरिणम्	वैरी-रूप
कामम्	कामना को
च	और
अनर्थसङ्कुलम्	अनर्थ से भरेहुए
अर्थम्	अर्थ को
विहाय	त्याग करके
च	और
एतयोः	उन दोनों को
हेतुम्	कारण रूप
धर्मम्	धर्म को
अपि	भी
विहाय	छोड़कर
सर्वत्र	धर्म, अर्थ और काम के हेतु कर्मों का
अनादरम् कुरु	अनादर करो ॥

भावार्थ ।

पहले प्रकरण में विषयों के बिना भी सन्तोष-रूप वैराग्य

का निरूपण किया है। अब इस प्रकरण में विषयों की तृष्णा के त्याग का निरूपण करते हैं।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! काम शत्रु है। यह काम ही सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है और बड़ा दुर्जय है।

आत्मपुराण में कहा है—

कामेन विजितो ब्रह्मा कामेन विजितो हरः।
कामेन विजितो विष्णुः शक्रः कामेन निर्जितः ॥

कामदेव ही ने ब्रह्मा को जीता, विष्णु को जीता, इन्द्र को जीता, महादेव को जीता, अतएव सब अनर्थों का मूल कारण कामदेव ही है। धन के संग्रह और रक्षा करने में जो दुःख होता है और उसके नाश होने में जो शोक होता है, उसका मुख्य कारण काम ही है। हे जनक ! काम का कारण जो धर्म है, उसको और सकाम कर्मों को तुम त्याग करो, क्योंकि ये सब जीवन्मुक्ति में प्रतिबन्धक हैं ॥ १ ॥

मूलम् ।

स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पञ्च वा ।
मित्रक्षेत्रधनागारदारादायादिसम्पदः ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

स्वप्न इन्द्रजालवत्, पश्य, दिनानि, त्रीणि, पञ्च, वा, मित्रक्षेत्रधनागारदारादायादिसम्पदः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
मित्रक्षेत्रधनागारदारादायादिसम्पदाः=	मित्र, क्षेत्र, धन, मकान, स्त्री, भाई आदि सम्पत्तियों को
स्वप्नेन्द्रजालवत्=	स्वप्न और इन्द्रजाल के समान

अन्वयः।	शब्दार्थ।
त्रीणि=	तीन
वा=	या
पञ्च=	पाँच
दिनानि=	दिनों तक
पश्य=	देख

भावार्थ।

प्रश्न—अनेक प्रकार सुखों को देनेवाले जो स्त्री पुत्रादि विषय हैं, उनका निरादर करके त्याग कैसे हो सकता है ?

उत्तर—हे शिष्य ! स्त्री, पुत्र, धन, मित्र, क्षेत्रादि जितने भी भोग के साधन हैं, इन सबको तुम स्वप्न और इन्द्रजाल की तरह देखो, क्योंकि ये सब तीन या पाँच दिन के रहनेवाले हैं, और सब दृष्टनष्ट हैं याने देखते ही नष्ट हो जाते हैं। इस वास्ते इनमें ममता का त्याग करना उत्तम है ॥ २ ॥

मूलम्।

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै ।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव ॥ ३ ॥

पदच्छेदः।

यत्र, यत्र, भवेत्, तृष्णा, संसारम्, विद्धि, तत्र, वै, प्रौढवैराग्यम्, आश्रित्य, वीततृष्णः, सुखी, भव ॥

अन्वयः। शब्दार्थ।

यत्र यत्र=जिस जिस वस्तु में
तृष्णा=इच्छा
भवेत्=हो
तत्र=उस उस में
संसारम्=संसार को
विद्धि=जानो
वै=निश्चयपूर्वक

अन्वयः। शब्दार्थ।

प्रौढवैराग्यम्=असाधारण वैराग्य को
आश्रित्य=आश्रय करके
वीततृष्णः=तृष्णा-रहित होता हुआ
सुखी भव=सुखी हो॥

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! जिस-जिस प्रसिद्ध विषय में मन की तृष्णा उत्पन्न होती है, उसी उसी विषय को तुम संसार का हेतु जानो। क्योंकि विषयों की तृष्णा ही कर्म द्वारा संसार का हेतु है। यही वार्ता 'योगवाशिष्ठ' में भी लिखी है—

मनोरथरथारूढं युक्तमिन्द्रियवाजिभिः।
भ्राम्यत्येव जगत्कृत्स्नं तृष्णासारथिचोदितम्॥

मनोरथ-रूपी रथ है, इन्द्रिय-रूपी घोड़े उसके आगे बँधे हैं, उसी रथ पर सारा जगत् आरूढ़ हो रहा है और तृष्णा-रूपी सारथि उसको भ्रमा रहा है॥

यथा हि शृंगगोकाले वर्धमानेन वर्धते।
एवं तृष्णापि चित्तेन वर्धमानेन वर्धते॥

जैसे गौ के दोनों शृंग गौ के शरीर के साथ ही बराबर बढ़ते हैं, वैसे ही तृष्णा भी चित्त के साथ ही बराबर बढ़ती है॥

प्राप्त पदार्थ के अधिक प्राप्त होने की इच्छा से और अप्राप्त पदार्थ के प्राप्त की इच्छा से रहित होकर आत्मा में निष्ठा करने से जीव सुखी होता है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

तृष्णामात्रात्मकः, बन्धः, तन्नाशः, मोक्षः, उच्यते, भवासंसक्तिमात्रेण, प्राप्तितुष्टिः, मुहुः, मुहुः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
तृष्णामात्रात्मकः	= तृष्णा-मात्र-स्वरूप	भवासंसक्तिमात्रेण	= संसार में असङ्ग होने से
बन्धः	= बन्ध है	मुहुःमुहुः	= वारंवार
तन्नाशः	= उसका नाश	प्राप्तितुष्टिः	= आत्मा की प्राप्ति और तृप्ति होती है ॥
मोक्षः	= मोक्ष		
उच्यते	= कहा जाता है		

भावार्थ ।

तृष्णा-मात्र का नाम ही बन्ध है और उसके नाश का नाम मोक्ष है । 'योगवाशिष्ठ' में कहा है—

च्युता दन्ताः सिताः केशा दृङ निरधोः पदे पदे ।
यातसज्जमिमं देहं तृष्णा साध्वी न मुञ्चति ॥

अर्थात् पुरुष के दाँत टूट भी जाते हैं, केश श्वेत हो जाते हैं, नेत्र की दृष्टि कम भी हो जाती है और कदम-कदम पर पाँव

फिसलते भी हैं, पर तब भी यह तृष्णा उस पुरुष से नहीं त्यागी जाती है ॥

तृष्णे देवि नमस्तुभ्यं धैर्यविप्लवकारिणी ।
विष्णुस्त्रैलोक्यपूज्योऽपि यत्त्वया वामनीकृतम् ॥

हे तृष्णे ! हे देवि ! तेरे प्रति मेरा नमस्कार है, क्योंकि तू पुरुष की धैर्यता नाश करनेवाली है । जो विष्णु तीनों लोकों में पूज्य था, उसको भी तूने वामन अर्थात् छोटा बना दिया ॥

हे जनक ! तृष्णा का त्याग ही मुक्ति का हेतु है ॥ ४ ॥

मूलम् ।

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा ।
अविद्यापि न किञ्चित्सा का बुभुत्सा तथापि ते ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

त्वम्, एकः, चेतनः, शुद्धः, जडम्, विश्वम्, असत्, तथा, अविद्या, अपि, न, किञ्चित्, सा, का, बुभुत्सा, तथा, अपि, ते ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।	अन्वयः । शब्दार्थ ।
त्वम्=तुम	**तथा=वैसे ही**
एकः=एक	**सा अविद्या अपि=वह अविद्या भी**
शुद्धः=शुद्ध	**न किञ्चित्=असत् है**
चेतनः=चैतन्य-रूप है	**तथा अपि=ऐसा होने पर भी**
विश्वम्=संसार	**ते=तुझको**
जडम्=जड़	**का=क्या**
च=और	**बुभुत्सा=जानने की इच्छा है ॥**
असत्=असत् है	

प्रश्न—यदि तृष्णा-मात्र बन्धन का हेतु माना जावे, तो आत्मज्ञान की प्राप्ति का हेतु भी तृष्णा-बन्धन का हेतु होना चाहिए ?

उत्तर—अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! इस जगत् में तीन ही पदार्थ हैं—एक आत्मा, दूसरा जगत्, तीसरी अविद्या।

प्रथम आत्मा के लक्षण को दिखाते हैं—

स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराद्व्यतिरिक्तोऽवस्थात्रयसाक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपो यस्तिष्ठति स आत्मा ॥

अर्थ—जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरों से भिन्न है और जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं का साक्षी सच्चिदानन्द स्वरूप है, वही आत्मा है। उसकी प्राप्ति के लिये तृष्णा करना उचित है ॥

अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्तत्वमज्ञानत्वम् ॥

जो अनादिभाव-रूप है, और आत्म-ज्ञान से निवृत्त है, वही अज्ञान अर्थात् अविद्या है ॥

गच्छतीति जगत् ॥

जो सदैव गमन करता रहे अर्थात् नदी के प्रवाह की तरह चलता रहे, वही जगत् है ॥

हे जनक ! तुम इन तीनों में से एक ही चेतन शुद्ध आत्मा हो, अपनी आत्मा को ही पूर्ण-रूप करके निश्चय करो और जगत् को असत्-रूप से जानो। अविद्या सदसत् से विलक्षण और

अनिर्वचनीय है। उसका कार्य जगत् भी अनिर्वचनीय है। इस वास्ते इन दोनों में तृष्णा करनी अनुचित है, क्योंकि दोनों मिथ्या हैं। मिथ्या वस्तु में मूर्ख अज्ञानी तृष्णा को करता है, ज्ञानवान् कदापि नहीं करता है ॥ ५ ॥

मूलम् ।

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च ।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

राज्यम्, सुताः, कलत्राणि, शरीराणि, सुखानि, च, संसक्तस्य, अपि, नष्टानि, तव, जन्मनि, जन्मनि ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
राज्यम्	राज्य	नष्टानि	नष्ट हुए हैं
सुताः	पुत्र	च	और
कलत्राणि	स्त्रियाँ	तव	तेरे
शरीराणि	शरीर	अपि	भी
च	और	एते	ये सब
सुखानि	सुख	जन्मनिजन्मनि	हर एक जन्म में
संसक्तस्य	आसक्त पुरुष के	नष्टानि	नष्ट हुए हैं ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी जगत् को असत्य-रूप दिखलाते हैं—

हे जनक ! राजभोग और स्त्री, पुत्रादिक ये सब तो तुमको अनेक जन्मों में मिलते ही रहे हैं और नष्ट भी होते रहे हैं। क्योंकि पहले जन्मों में जो तुमको स्त्री-पुत्रादि प्राप्त हुए थे, उनका

इस काल में कहीं भी पता नहीं है और इस वर्तमान जन्म में जो मिले हैं, उनका आगे कहीं भी नाम व निशान नहीं रहेगा, इससे यही साबित होता है कि ये सब असत् अर्थात् मिथ्या हैं। जाग्रत् के पदार्थ जैसे स्वप्न में असत् होते हैं और स्वप्न के पदार्थ जैसे जाग्रत् में असत् होते हैं और जैसे सुषुप्ति में दोनों जाग्रत् और स्वप्न असत् होते हैं और सुषुप्ति, जाग्रत् दोनों स्वप्न में असत् होते हैं, क्योंकि एक दूसरे के विरोधी हैं वैसे ही जब मनुष्य अज्ञान-रूपी स्वप्न अवस्था से जागकर ज्ञान-रूपी जाग्रत् अवस्था को प्राप्त होता है, तब उसको सारा जगत् मिथ्या प्रतीत होने लगता है।

प्रश्न—सांख्यमतवाले जगत् के पदार्थों को नित्य मानते हैं और कहते हैं कि कारण मृत्तिका भी सत्य है, और उसका कार्य घट भी सत्य है। अर्थात् कारण और कार्य दोनों सत्य हैं। यदि घट मृत्तिका में पूर्व सत्य और सूक्ष्मरूप से स्थित न होवे, तो उसकी उत्पत्ति भी न होवे। क्योंकि सत्य की उत्पत्ति असत् से नहीं होती है, इस वास्ते घट सत्य है। इसी तरह और भी संसार के सारे पदार्थ सत्य ही हैं, असत्य कोई पदार्थ नहीं है। कारण-सामग्री से घट का प्रादुर्भाव होता है, सामग्री के न होने से घट-रूपी कार्य का मृत्तिका-रूपी कारण में ही तिरोभाव रहता है, घट मिथ्या नहीं है?

उत्तर—त्रिकालाबाध्यत्वे सत्यत्वम्।

तीनों कालों में जिसका बाध न हो, उसका नाम सत्य है,

पर संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। तुमने कहा है कि कार्य अपने कारण में सत्य-रूप से रहता है, इसलिये कार्य सत्य है, सो ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पट के कारण तन्तु हैं, तन्तुओं के जल जाने से पट कहाँ रहता है। कारण तो उसका रहा नहीं, कारण के नाश होने से कार्य-रूप पट का भी नाश हो गया।

यदि उन्हीं जले हुए तन्तुओं से पट फिर उत्पन्न होवें, तब उस पट का प्रादुर्भाव और तिरोभाव कारण-रूपी तन्तुओं में समझा जावे, पर वह तन्तु तो रहते नहीं, तब प्रादुर्भाव तिरोभाव कहाँ रहा।

यदि कहो कि वह पट अपने कारण-रूपी तन्तुओं के कारण जो तन्तुओं के परमाणु हैं, उनमें चला गया, तो ऐसा कथन भी नहीं बनता है, क्योंकि जब तन्तु जल जाते हैं, तब उनके परमाणु वायु के चलने से स्थानान्तर में चले जाते हैं और उन्हीं पृथिवी के परमाणुओं से कार्यान्तर बन जाते हैं अर्थात् घटादि बन जाते हैं; क्योंकि जैसे तन्तु पृथिवी के कार्य हैं, वैसे घटादि भी पृथिवी के कार्य हैं। पटों के जल जाने के पीछे उनकी राख से और बहुत वस्तुएँ पैदा हो सकती हैं।

यदि पट ही उस राख में तिरोभाव-रूप करके रहता, तब और वस्तु न बन सकती, उस राख से पट का ही प्रादुर्भाव होता, किन्तु ऐसा तो नहीं देखते हैं। खेत में उसी राख के डालने से घास आदि पैदा हो जाते हैं, फिर और

भी अनेक पदार्थ इसी प्रकार नष्ट और उत्पन्न होते हैं। यदि सब सत्य ही होवें, तब उनका नाश कदापि न हो और नाश अवश्य होता है, इसी से सिद्ध होता है कि सब पदार्थ अनिर्वचनीय मिथ्या हैं और साङ्ख्य दर्शन का सत्यकार्यवाद भी असंगत है ॥ ६ ॥

मूलम्।

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।
एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून्मनः ॥ ७ ॥

पदच्छेदः।

अलम्, अर्थेन, कामेन, सुकृतेन, अपि, कर्मणा, एभ्यः, संसारकान्तारे, न विश्रान्तम्, अभूत्, मनः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
अर्थेन	अर्थ से
कामेन	कामना से
सुकृतेन कर्मणा अपि	सुकृत कर्म से भी
अलम्	बहुत हो चुका है
तथा अपि	तो भी
एभ्यः	इन तीनों से
संसारकान्तरे	संसार-रूपी जंगल में
मनः	चित्त
न विश्रान्तम्	शान्त नहीं
अभूत्	हुआ ॥

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक! धर्म, अर्थ और काम की इच्छा का त्याग करना ही जीवन्मुक्ति का कारण है और इनमें जो दोष हैं, उनको देखो—

पृथिवीं धनपूर्णां चेदिमां सागरमेखलाम् ।
प्राप्नोति पुनरप्येष स्वर्गं मिच्छति नित्यशः ॥

यदि यह संपूर्ण पृथिवी समुद्र पर्यन्त धन से युक्त भी किसी को मिल जावे, तो भी वह नित्य ही स्वर्ग की इच्छा करता है ॥ १ ॥

न पश्यति च जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति ।
मदोन्मत्ता न पश्यन्ति ह्यर्थी दोषं न पश्यति ॥

जन्म के अन्धों को, कामातुर को, मदिरा से उन्मत्त को, और धन के अर्थी को कुछ भी नहीं दीखता है, इसलिये हे जनक ! धनादि की इच्छा का भी त्याग ही करना विवेकी के लिए उत्तम है, क्योंकि संसार-रूपी वन में भ्रमण करते हुए पुरुष का मन धर्म, अर्थ और काम से व्याकुल होता हुआ कभी भी शान्त नहीं होता है ॥ ७ ॥

मूलम् ।

कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा ।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम् ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

कृतम्, न, कति, जन्मानि, कायेन, मनसा, गिरा, दुःखम्, आयासदम्, कर्म, तत्, अद्य, अपि, उपरम्यताम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
कति	कितने	कर्म	कर्म
जन्मानि	जन्मों तक	न कृतम्	क्या नहीं किया गया
कायेन	शरीर से	इति	ऐसा
मनसा	मन से	तत्	वह कर्म
गिरा	वाणी से	अद्यापि	अब तो
दुःखम्	दुःख देनेवाला	आयासदम्	उपराम किया जावे ॥
आयासदम्	परिश्रम करनेवाला		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी तृष्णा के उपशम को पूर्व कह करके अब क्रिया के उपशम को कहते हैं—

हे जनक ! शरीर, मन और इन्द्रियों को परिश्रम देनेवाले कर्मों को तुम अनेक जन्मों तक करते आए हो, और उन कर्मों के फल जन्म-मरण-रूपी चक्र में भ्रमण करते चले आए हो। अब दिन प्रति दिन अनेक दुःख उठाते आए, पर कुछ सुख न मिला, अतएव तुम कर्मों से उपरामता को प्राप्त हो। क्योंकि पुरुष उपरामता होने के बिना जीवन्मुक्ति के सुख को नहीं प्राप्त होता ॥ ८ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां दशमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १० ॥

—:०:—

ग्यारहवाँ प्रकरण ।

—:o:—

मूलम् ।

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी ।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

भावाभावविकारः, च, स्वभावात्, इति, निश्चयी, निर्विकारः, गतक्लेशः, सुखेन, एव, उपशाम्यति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
भावाभाव-विकारः	भाव और अभाव का विकार
स्वाभावात्	स्वभाव से
इति	ऐसा
निश्चयी	निश्चय करनेवाला
निर्विकारः	विकार-रहित
गतक्लेशः	क्लेश-रहित पुरुष
सुखेन एव	सुख से ही
उपशाम्यति	शान्ति को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

अब ज्ञानाष्टक नामक एकादश प्रकरण का आरम्भ करते हैं ।

चित्त की शान्ति आत्म-ज्ञान से ही होती है, बिना आत्म-ज्ञान के किसी उपाय से नहीं होती है । इस वास्ते प्रथम आत्म-ज्ञान के साधनों को कहते हैं ।

भावाभाव अर्थात् स्थूल-सूक्ष्मरूप से जितने विकार अर्थात् कार्य हैं, वे सब माया और माया के संस्कारों से ही उत्पन्न

होते हैं और निर्विकार आत्मा से कोई भी विकार नहीं होता है।

प्रश्न—माया जड़ है, आत्मा चेतन है। केवल जड़ माया से कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है, और न केवल चेतन से उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि निरवयव आत्मा से सावयव कार्य नहीं उत्पन्न हो सकता है, और न केवल जड़ माया में आप से आप बिना चेतन के सम्बन्ध, कोई कार्य उत्पन्न हो सकता है। यदि होवे, तब विना ही कुलाल के आपसे आप मृत्तिका से घट उत्पन्न हो जाना चाहिए पर ऐसा तो नहीं होता है। तब आपने कैसे कहा कि स्थूल सूक्ष्मरूप कार्य सब माया से ही उत्पन्न होते हैं, चेतन से नहीं होते हैं ?

उत्तर—हे जनक ! जैसे चुम्बक पत्थर को शक्ति करके लोहे में चेष्टा होती है, चुम्बक पत्थर में नहीं होती, वैसे चेतन की सत्ता से माया से कार्य उत्पन्न होते हैं, चेतन से नहीं होते हैं। जैसे शरीर में जीवात्मा की सत्ता से नखरोमादि उत्पन्न होते हैं। आत्मा में नहीं होते हैं। आत्मा असंग है, निर्विकार है, शरीर विकारी और नाशी है। आत्मा नित्य है, चेतन है, शरीर जड़ है, अनित्य है; ऐसा निश्चय करनेवाला पुरुष विना परिश्रम के शान्ति को प्राप्त होता है, दूसरा नहीं होता है ॥ १ ॥

मूलम् ।

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी ।
अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

ईश्वरः, सर्वनिर्माता, न, इह, अन्यः इति, निश्चयी, अन्तर्गलित सर्वाशः, शान्तः, क्व, अपि, न, सज्जते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सर्वनिर्माता-	सबको पैदा करनेवाला
इह-	इस संसार में
ईश्वरः-	ईश्वर है
अन्यः-	दूसरा कोई
न-	नहीं है
इति-	ऐसा
निश्चयी-	निश्चय करनेवाला पुरुष
अन्तर्गलित सर्वाशः-	अन्तःकरणमेंगलित हो गई हैं सब आशाएँ जिसकी
च-	और
यस्य आत्मा-	जिसका मन
शान्तः-	शान्त हुआ है
क्व अपि-	कहीं भी
न-	नहीं
सज्जते-	आसक्त होता है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—आपने कहा है कि आत्मा की सत्ता से भावाभाव-विकार उत्पन्न होते हैं, वे आत्मा दो हैं। एक जीवात्मा है, दूसरी ईश्वरात्मा है। दोनों में से किसकी सत्ता से भावाभाव विकार उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर—ईश्वरात्मा की सत्ता से जगत् भर के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जीवात्मा की सत्ता से शरीर के नखरोमादि उत्पन्न होते हैं। क्योंकि वह आत्मा अपने शरीर-मात्र में ही है और इसी कारण परिच्छिन्न है। उसकी सत्ता से जगत् के पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकते हैं, और ईश्वर सर्वत्र व्यापक है, और सारे जगत् से बड़ा है। उसकी उपाधि माया भी बड़ी है, इसी वास्ते सर्वत्र ईश्वर की सत्ता से पदार्थ उत्पन्न होते हैं,

और जीव की उपाधि जो अन्तःकरण है वह अल्प शरीर में स्थित है, इस वास्ते उसकी सत्ता से शरीर के अवयव आदि बढ़ते हैं। अल्प उपाधि-वाला होने से जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला है, और बड़ी उपाधिवाला होने से ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, इसी कारण ईश्वर को ही लोक जगत् का कर्त्ता मानते हैं। वास्तव में वह कर्त्ता नहीं है, केवल माया उपाधि से कर्तृत्व व्यवहार भी ईश्वर में गौण है, मुख्य नहीं है। वह वास्तव में अकर्ता है और जीव भी वास्तव में अकर्ता है।

प्रश्न—आपने पूर्व कहा था कि चेतन एक है, अब आप जीव और ईश्वर-भेद से दो चेतन कहते हैं?

उत्तर—वास्तव में चेतन एक ही है, परन्तु कल्पित उपाधियों के भेद से चेतन का भेद हो जाता है। हे राजन्! अविद्यातत्कार्य-रहितः शुद्धः। अविद्या और अविद्या के कार्य से रहित जो चेतना है, उसी का नाम शुद्ध चेतन है, उसी को निर्गुणब्रह्म भी कहते हैं।

सर्वनामरूपात्मकप्रपंचाध्यासाधिष्ठानत्वं ब्रह्मत्वम्।

सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपंच के अध्यास का जो अधिष्ठान हो, उसी का नाम ब्रह्म है, उसी शुद्ध चेतन में सारा नाम-रूपात्मक जगत् अध्यस्त है।

माया में प्रतिबिंबित चेतन का नाम ईश्वर है, अंतःकरण में प्रतिबिंबित चेतन का नाम जीव है। माया एक है, इस वास्ते उसमें प्रतिबिंबित चेतन ईश्वर भी एक ही कहा जाता है।

अविद्या के अंश अन्तःकरण नाना हैं, उनमें प्रतिबिंबित चेतन भी नाना हैं। चेतन के तीन भेद हैं। १—विषयचेतन, २—प्रमाण-चेतन, ३—प्रमातृचेतन ॥

घटावच्छिन्नचैतन्यं विषयचैतन्यम् ॥

घटावच्छिन्न चेतन का नाम विषयचेतन है ॥

अन्तःकरणवृत्त्यवछिन्नचैतन्यं प्रमाणचैतन्यम् ॥

अन्तःकरण की वृत्त्यवच्छिन्न चेतन का नाम प्रमाण चेतन है ॥

अन्तःकरणावच्छिनं चैतन्यं प्रमाणचैतन्यम् ॥

अन्तःकरणावच्छिनं चेतन का नाम प्रमातृचेतन है ॥

घटादिक विषय अनन्त हैं, इसलिये उनसे सम्बन्ध रखने-वाली अन्तःकरण की वृत्तियाँ भी अनन्त हैं और अन्तःकरण भी अनन्त हैं, इन उपाधियों के भेद से चेतन के भी अनन्त भेद हो गये हैं। वास्तव में चेतन एक महाकाश की तरह है। जैसे महा-काश का घटपटादि उपाधियों के साथ वास्तव में कोई भी सम्बन्ध नहीं है, वैसे कल्पित उपाधियों के साथ अन्तःकरणों का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसे निश्चय करनेवाला पुरुष निश्चल चित्त होकर कहीं भी संसक्त नहीं होता है ॥ २ ॥

मूलम् ।

आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी ।
तृप्तःस्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वाञ्छति न शोचति ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

आपदः, सम्पदः, काले, दैवात् एव, इति, निश्चयी, तृप्तः, स्वस्थेन्द्रियः, नित्यम्, न, वाञ्छति, न, शोचति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
काले	समय पर
आपदः	आपत्तियाँ
च	और
सम्पदः	सम्पत्तियाँ
दैवात् एव	दैवयोग से ही
इति निश्चयी	ऐसा निश्चय करनेवाला पुरुष
नित्यं तृप्तः स्वस्थेन्द्रियः	नित्य संतुष्ट व स्वस्थेन्द्रिय हुआ
न वाञ्छित	अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं करता है
च	और
न	न
शोचति	नष्ट हुई वस्तु को शोचता है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—यदि ईश्वर ही सर्व जगत् का रचनेवाला माना जायेगा, तब फिर किसी को दरिद्री, किसी को धनी, किसी को दुःखी किसी को सुखी न होना चाहिए। पर ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं, इसलिये ईश्वर में विषम दृष्टि आदि दोष आते हैं ?

उत्तर—हे राजन् ! ईश्वर में दोष तब आवे, जब ईश्वर किन्हीं कर्मों को रचे, वह तो नहीं है, क्योंकि गीता में भी लिखा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

ईश्वर जीवों के कर्तृत्व को और कर्मों को नहीं रचता है और कर्मों के फल के संयोग को भी नहीं रचता, ये सब अनादि-काल के संस्कारों से होते हैं अर्थात् अनादिकाल से चले आते हैं, इस वास्ते ईश्वर में कोई दोष नहीं आता है ॥

प्रश्न—कर्म जड़ है, स्वतः फल को नहीं दे सकता है और जीव असमर्थ है वह भी अपने आप फल को नहीं भोग सकता है, तब फिर फलदाता ईश्वर में दोष क्यों नहीं आयेगा ?

उत्तर—ईश्वर में दोष तब आवे, जब ईश्वर जीवों से शुभ अशुभ कर्म करावे और फिर उनको फल देवे या जीवों को उत्पन्न करके उनसे कर्म करावे, ऐसा तो नहीं है, क्योंकि प्रवाह-रूप से सारा जगत् अनादि चला आता है, कोई भी नई वस्तु जीव या ईश्वर उत्पन्न नहीं करता है। जैसे पृथिवी में सब वनस्पति के बीज रहते हैं, परन्तु विना सहकारी कारण सामग्री के अंकुरों को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। वैसे माया में सब प्रकार के पदार्थों के सूक्ष्मरूप से बीज बने रहते हैं, परन्तु विना सहकारी कारण के उत्पन्न नहीं होते हैं। जिस काल में उसकी उत्पत्ति की सामग्री जुड़ जाती है, उसी काल में वह उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे जुदा खेतों में जुदा जुदा बीज हल जोतकर किसान वो देता है यानी किसी में चना, किसी में गेहूँ, किसी में मटर आदि बोता है, परन्तु विना तरी के वे नहीं उत्पन्न होते हैं और पानी विना बीज के फल को नहीं दे सकते हैं। जब खेत बोया हो और समय

पर वर्षा हो, तब जाकर बीजों से आगें फल उत्पन्न होते हैं। वर्षा सब खेतों में एक समान बराबर होती है, पर जैसा-जैसा बीज जिस खेत में होता है वैसा-वैसा उसमें फल उत्पन्न होता है, न केवल खेत फल को उत्पन्न कर सकता है, न केवल बीज ही फल को उत्पन्न कर सकता है। खेत, बीज और वर्षा तीनों मिल करके ही फल को उत्पन्न करते हैं, वैसे ही दृष्टान्त में बादल स्थानापन्न ईश्वर हैं, खेत स्थानापन्न जीवों के अन्तःकरण हैं, बीज स्थानापन्न जीवों के संचितकर्म हैं, ईश्वर की सत्ता-रूपी वर्षा सर्वत्र तुल्य है, क्योंकि ईश्वर चेतन सर्वत्र तुल्य है, परन्तु जैसे-जैसे जिसके कर्म-रूपी बीज अन्तःकरण रूपी खेत में स्थित हैं, वैसे वैसे उसको फल होते हैं। ईश्वर स्वतंत्र अर्थात् कर्मों के बिना फल का प्रदाता नहीं है। यदि ऐसा हो, तो उसमें विषम दोष आवे, इसी वास्ते ईश्वर न्यायकारी है।

प्रश्न—यदि ईश्वर न्यायकारी माना जावे, तब दयालुता आदि गुण उसमें नहीं रहेंगे।

उत्तर—दयालुता आदि गुण यदि माने जायेंगे, तब न्याय-कारिता नहीं रहती है, क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी हैं।

जो राजा न्यायकारी होता है, वह दयालु नहीं होता है। यदि दयालुता करेगा, तब किसी हननकर्ता पुरुष को हनन करने की आज्ञा नहीं देगा और यदि देगा, तब वह रोने-चिल्लाने लगेगा, क्योंकि प्राण तो सबके प्यारे हैं। उसके दुःख को देखकर राजा को उस पर दया होगी और दया के वश होकर राजा उसको छोड़ देगा, तब उसकी न्यायकारिता जाती रहेगी। इसी

तरह ईश्वर भी यदि पापियों को पाप का फल जो दुःख है, उसको नहीं देगा और दया करके छोड़ देगा, तब जगत् में कोई भी दुःखी नहीं रहेगा, पुर ऐसा तो नहीं देखते हैं, क्योंकि संसार में लाखों पुरुष बड़े-बड़ असाध्य रोगों से दुःखी हैं, रात-दिन ईश्वर! ईश्वर! पुकारते-पुकारते मर जाते हैं, और उनका दुःख दूर नहीं होता है। लाखों अकाल में अन्न बिना मर जाते हैं और जीव कर्म के फल दुःखों को भोगकर अच्छे हो जाते हैं। अनेक प्रकार के कार्य हैं, अनेक प्रकार के उनके फल हैं, बिना भोग के कर्म नहीं छूटते हैं। इन्हीं युक्तियों से सिद्ध होता है कि ईश्वर न्याय-कारी है, दयालु नहीं है।

प्रश्न—फिर भक्त लोग ईश्वर की भक्ति करने के काल में क्यों कहते हैं कि हे ईश्वर! आप दयालु हैं, कृपालु हैं और न्याय-कारी हैं?

उत्तर—गुणारोप्य के बिना भक्ति और उपासना नहीं हो सकती है। जैसे मिथ्या कल्पी हुई मूर्ति के ध्यान करने से अर्थात उस मूर्ति में चित्त के रोकने से चित्त में शान्ति और आनन्द होता है अर्थात् चित्त के निरोध से नित्य आत्मसुख की प्राप्ति होती है, वैसे ही मिथ्या दयालुतादि गुणों को ईश्वर में आरोप्य करने से भी ईश्वर में प्रेम उत्पन्न होता हैं और उस प्रेम से पुरुष को आनन्द होता है, उसी प्रेम का नाम भक्ति है। दयालुतादि गुणों का आरोप्य करना निरर्थक नहीं है वास्तव में तो ईश्वर गुणातीत है। गुण माया का कार्य है, और माया के सम्बन्ध से

ईश्वर गुणों वाला कहा जाता है । संसार में सब जीवों को आपदाएँ और सम्पदाएँ प्रारब्धकर्मों के अनुसार ही प्राप्त होती है, ऐसे निश्चय करनेवाला जो पुरुष है, और भोगों की तृष्णा से जो रहित है, और जिसके इन्द्रियादि वश में हैं, और किसी पदार्थ में जिसकी इच्छा नहीं है, अर्थात् जो अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं करता है, और जो प्राप्त वस्तु के नष्ट होने से शोक नहीं करता, वही नित्य सुख को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवादेवेति निश्चयी ।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

सुखदुःखे, जन्ममृत्यु, दैवात्, एव, इति, निश्चयी, साध्यादर्शी, निरायासः, कुर्वन्, अपि, न, लिप्यते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सुखदुःखे	सुख और दुःख
जन्ममृत्यु	जन्म और मरण
दैवात् एव	दैव से ही होता है
इति	ऐसा
निश्चयी	निश्चय करनेवाला
साध्यादर्शी	साध्य कर्म को देखनेवाला
च	और
निरायासः	श्रम-रहित
कुर्वन्	कर्म को करता हुआ
न लिप्यते	नहीं लिप्त होता है ॥

प्रश्न—पूर्वोक्त निश्चय करनेवाले ज्ञानी भी तो कर्मों को करते हुए दिखाई पड़ते हैं ? उनको कर्मों का फल होगा, या नहीं ?

उत्तर—जो यथार्थ बोधवाले हैं, उनको कर्मों का फल नहीं होगा, क्योंकि प्रथम वे फल की कामना से रहित होकर कर्मों को करते हैं, दूसरे वे श्रेष्ठाचार के लिए कर्मों को करते हैं, तीसरे वे कर्मों को देह इन्द्रियादिकों के धर्म जानते हैं, अपने आत्मा का धर्म नहीं मानते हैं, चौथे अहंकार से रहित होकर वे कर्मों को करते हैं, इन्हीं चार हेतुओं से उनको कर्मों का फल नहीं होता है ।

गीता में भी कहा है—

यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

जिसका देह इन्द्रियादिकों में अहंकृतभाव नहीं है, अर्थात् मैं देह हूँ, या मेरा यह देह है, इस प्रकार की जिसकी भावना नहीं है और कर्तृत्व-भोक्तृत्व बुद्धि भी जिसकी आसक्ति युक्त नहीं है, वह विद्वान् यदि प्रारब्धकर्म के वश से शरीरादिकों से तीनों लोकों का बध भी कर देवे, तो भी उसको ऐसा करने का फल लिप्त नहीं होता है, जो इस प्रकार निश्चय करता है कि सुख-दुःखादि ये सब प्रारब्धकर्म के वश से जीवों को होते हैं, वह विद्वान् परिश्रम से रहित प्रारब्धवश से कर्मों को करता हुआ उनके फल के साथ लिप्त नहीं होता है ॥ ४ ॥

मूलम् ।

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी ।
तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

चिन्तया, जायते, दुःखम्, न, अन्यथा, इह, इति, निश्चयी, तया, हीनः, सुखी, शान्तः, सर्वत्र, गलितस्पृहः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
इह	इस संसार में
चिन्तया	चिन्ता से
दुःखम्	दुःख
जायते	उत्पन्न होता है
अन्यथा	और प्रकार से
न	नहीं
इति	ऐसा
निश्चयी	निश्चय करनेवाला
सुखी	सुखी और
शान्तः	शांत है
सर्वत्रगलितस्पृहः	सर्वत्र उसकी इच्छा गलित
च	और
तया	उससे अर्थात् चिंता से
हीनः	रहित

भावार्थ ।

प्रश्न—कर्मों को करता हुआ पुरुष उनके फल के साथ लिप्त क्यों नहीं होता है ? जो कर्ता होता है वही भोक्ता भी अवश्य होता है ?

उत्तर—इस संसार में पुरुष को चिन्ता करने से ही दुःख उत्पन्न होता है, बिना चिन्ता के दुःख नहीं होता है, जो इस प्रकार निश्चय करता है, वह चिन्ता को त्याग देता है, और

शान्तचित्त और स्थिर अन्तःकरणवाला होता है, और श्रम से रहित होकर भी कर्मों से जन्य अर्थों का भोगनेवाला नहीं होता है ॥ ५ ॥

मूलम् ।

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी ।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

न, अहम्, देहः, न, मे, देहः, बोधः, अहम्, इति, निश्चयी, कैवल्यम्, इव, संप्राप्तः, न, स्मरति, अकृतम्, कृतम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्-	मैं
देहः-	शरीर
न-	नहीं हूँ
देहः-	देह
मे-	मेरा
न-	नहीं है
बोधोऽहम्-	ज्ञानस्वरूप हूँ
इति-	इस प्रकार
कैवल्यम्-	विदेह मुक्ति को
संप्राप्तः-	प्राप्त होता हुआ
निश्चयी-	निश्चय करनेवाला पुरुष
अकृतं कृतम्-	अकृत और कृत कर्म को
न स्मरति-	नहीं स्मरण करता है ॥

भावार्थ ।

पूर्वोक्त साधनों से युक्त जो ज्ञानी हैं, उनकी दशा को दिखाते हैं—

ज्ञानवान् को ऐसा निश्चय होता है "नाहं देहः" मैं देह नहीं हूँ और "न मे देहः" मेरा यह देह नहीं है और मैं नित्य बोध-स्वरूप हूँ। आत्म-ज्ञान से देहादिकों में दूर हो गया है अहं और मम अभिमान जिसका, कर्त्तव्य और अकर्तव्य जिसका बाकी नहीं रहा है, और कृत तथा अकृत का स्मरण भी जिसको नहीं है वही ज्ञानवान् जीवन्मुक्त कहा जाता है। इसमें एक दृष्टान्त को कहते हैं–

एक मंदिर में एक महात्मा रहते थे। आत्म-विद्या का अभ्यास करते करते उनकी अवस्था चढ़ गई थी, और शरीर की सब क्रियाएँ उनकी छूट गई थीं। अतः जब कोई उनके मुख में भोजन डाल देता, तव खाते, जब कोई पानी पिलाता, तब पानी पीते थे और एक स्थान में बैठे रहते थे, किसी से बोलते-चालते न थे और अपने आत्मानंद में ही मग्न रहते थे। एक दिन दोपहर के समय उसी मंदिर में लड़के खेलते थे। एक लड़के ने कहा कि इन महात्मा के वक्ष स्थल पर चौपट बनाकर खेलें, दूसरा लड़का चाकू ले आया और जब चाकू से वक्षः स्थल पर लकीरें खींचने लगा, तब उसमें से रुधिर बहने लगा। महात्मा ज्यों के त्यों पड़े रहे और लड़के डर के मारे भाग गये। कोई एक पुरुष मंदिर में आया और उसने महात्मा के वक्षः स्थल में रुधिर बहते देखा, तब उसने इधर-उधर से पूछा, तो उसको मालूम हुआ कि यह लड़कों ने किया है। तब दो चार आदमी मिलकर जर्राह को बुला लाये। जब जर्राह आकर जखम को हाथ लगाकर सीने लगा, तब महात्मा ने सीने न दिया। जब थोड़े दिनों के बाद जखम

में कीड़े पड़ गये, तब भी महात्मा का चेहरा मैला न हुआ। उसी नगर में थोड़ी दूर पर मंदिर पर एक और महात्मा रहते थे। उन्होंने जब उनका हाल सुना, तब एक आदमी की जबानी उन महात्मा को कहला भेजा कि भाई! जिस मकान में आदमी रहता है, उस मकान में उसको झाड़ू-बुहारू देना आवश्यक होता है। जब ऐसा संदेश उनको पहुँचा, तब उन्होंने जवाब दिया कि महात्माजी से कहना कि जब आप तीर्थों में गये थे और राह में बीसों धर्मशालाओं में रात्रि भर रहते थे, वे धर्मशालाएँ अब गिर पड़ी हैं, अब जाकर उनकी मरम्मत करिए। हमको तो शरीर-रूपी धर्मशाला में आयु-रूपी रात्रि भर रहना है। वह रात्रि भी व्यतीत हो गई है। अब इस शरीर-रूपी धर्मशाला की कौन मरम्मत करे। इतना कहकर फिर चुप हो गये। थोड़े दिन के बाद उन्होंने शरीर का त्याग कर दिया, ऐसी दशा जीवन्मुक्तों की होती है ॥ ६ ॥

मूलम् ।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति निश्चयी ।
निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः ॥ ७ ॥

पदच्छेदः ।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्, अहम्, एव, इति, निश्चयी, निर्विकल्पः, शुचिः, शान्तः, प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्	ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त	च	और
अहम् एव	मैं ही	शान्तः	शान्त रूप
इति	इस प्रकार	च	और
निश्चयी	निश्चय करनेवाला	प्राप्ताप्राप्तविनिवृत्तः	लाभालाभ-रहित पुरुष
निर्विकल्पः	संकल्प-रहित	सुखीभवति	सुखी होता है ॥
शुचिः	शुद्ध		

भावार्थ ।

जीवन्मुक्तों के और लक्षणों को दिखलाते हैं—
ब्रह्मा से लेकर स्तंबपर्यन्त संपूर्ण जगत् मेरा ही रूप है, अर्थात् मैं ही सर्व-रूप हूँ, ऐसा निश्चय करनेवाला जो पुरुष है, वही निर्विकल्प समाधिवाला जीवन्मुक्त है, वही विषय-रूपी मल के सम्बन्ध से भी रहित है, वही शान्त चित्तवाला है, और वही प्राप्ताप्राप्त विषयों में इच्छा से रहित है, वही परम संतोषवाला है, वही अपने आत्मानंद से ही पूर्ण है ॥ ७ ॥

मूलम् ।

नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी ।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

नानाश्चर्यम्, इदम्, विश्वम्, न, किञ्चित्, इति, निश्चयी, निर्वासनः, स्फूर्तिमात्रः, न, किञ्चित्, इव, शाम्यति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
इदम्	=यह	निश्चयी	=निश्चय करनेवाला
विश्वम्	=संसार	निर्वासनाः	=वासना रहित
नानाश्चर्यम्	=अनेक आश्चर्य वाला	स्फूर्तिमात्रः	=बोध-स्वरूप पुरुष
न किञ्चित्	=कुछ नहीं है अर्थात् मिथ्या है	न किञ्चिदिव	=व्यवहार-रहित
इति	=इस प्रकार	शाम्यति	=शान्ति को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—हे प्रभो ! ब्रह्मज्ञानी के मन के संकल्प कैसे स्वतः नष्ट हो जाते हैं ?

उत्तर—जब अधिष्ठान चेतन के साक्षात्कार होने से अध्यस्त वस्तु का बाध हो जाता है अर्थात् आत्मा के साक्षात्कार होने से जब नाना प्रकार के आश्चर्य-रूप विश्व का बाध हो जाता है, तब विद्वान् के मन के सर्व संकल्प दूर हो जाते हैं ।

प्रश्न—हे प्रभो ! यदि आत्मा के साक्षात्कार होने से जगत् का बाध अर्थात् नाश हो जाता है, तो फिर पञ्च-भूतात्मक जगत् भी न रहता, और जगत् के नाश होने पर विद्वान् के देहादि भी न रहते, पर ऐसा तो नहीं देखते हैं, इसी से जाना जाता है कि आत्मा के साक्षात्कार होने पर भी जगत् ज्यों का त्यों बना रहता है ?

उत्तर—नाश दो प्रकार का है । एक तो बाध-रूप नाश है, दूसरा निवृत्ति रूप नाश है ।

"उपादानेन सह कार्यविनाशो बाधः ॥"

उपादानकारण के सहित जो कार्य का नाश है, उसका नाम बाध है।

"विद्यमाने उपादाने कार्यविनाशो निवृत्तिः ॥"

उपादान के विद्यमान होते हुए जो कार्य का नाश है, उसका नाम निवृत्ति है॥

विद्वान् की दृष्टि से अज्ञान-रूपी कारण के सहित कार्य-रूपी जगत् का नाश हो जाता है। जगत् का नाश-रूप बाध हो जाता है; परन्तु बाधिता अनुवृत्ति से बना रहता है, और स्वप्न-प्रपञ्च की निवृत्ति-रूप बाँध जाग्रत् में सो जाता है, क्योंकि उसका उपादानकारण जो अविद्या है, वह बनी रहती है। कारण-रूपी अविद्या के विद्यमान होने पर स्वप्न-रूपी कार्य का नाश हो जाता है, इसी से वह निवृत्ति-रूप बाध है।

अज्ञान के अनेक अंश हैं। जिस विद्वान् के अंतःकरण-रूपी अंश का जो अज्ञान का कार्य है, नाश हो जाता है, उसी को अपनी आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, और बाकी जीवों को नहीं होता हैं उनका जगत् भी बना रहता है। जैसे दश पुरुष सोये हुए अपने-अपने स्वप्नों को देखते हैं। उनमें से जिसकी निद्रा दूर हो गई है, उसी का स्वप्न प्रपंच नष्ट हो जाता है, बाकी के पुरुषों का बना रहता है। जिस पुरुष को ऐसा निश्चय हो गया है कि जगत् अपनी सत्ता से शून्य हैं, ब्रह्म की सत्ता से सत्यवत्

भान होता है, वास्तव में मिथ्या है वही पुरुष शान्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां एकादशं प्रकरणं समाप्तम् ।

—:o:—

बारहवाँ प्रकरण।

—:o:—

मूलम्।

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः।
अथ चिन्तासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥ १ ॥

पदच्छेदः।

कायकृत्यासहः, पूर्वम्, ततः, वाग्विस्तरासहः, अथ, चिन्तासहः, तस्मात्, एवम्, अहम्, आस्थितः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
पूर्वम्	पहले
कायकृत्यासहः	शारीरिक कर्म का न सहारनेवाला हुआ अर्थात् कायिक कर्म का त्यागनेवाला हुआ
ततः	उसके पीछे
वाग्विस्तरासहः	वाणी के जप्यरूप कर्म का न सहारनेवाला हुआ अर्थात् वाचिक कर्म का त्यागनेवाला हुआ
अथ	उसके पीछे
चिन्तासहः	चिन्ता के व्यापार को न सहारनेवाला हुआ अर्थात् मानसिक कर्म का त्याग करनेवाला हुआ।
तस्मात् एवम्	इसी कारण
अहम् एव	मैं ही
आस्थितः	स्थित हूँ ॥

भावार्थ ।

अब द्वादशाष्टक प्रकरण का आरम्भ करते हैं—

पूर्व जो गुरु ने शिष्य के प्रति ज्ञानाष्टक कहा है, उसी को अब शिष्य अपने में दिखाता है । शिष्य कहता है कि हे गुरो ! प्रथम जो शरीर के कर्म यज्ञादि हैं, उनका मैं असहन करनेवाला हुआ अर्थात् शारीरिक कर्म मेरे से सहारे नहीं गये हैं, फिर वाणी के कर्म जो निन्दा स्तुति आदि हैं, उनका मैंने असहन किया। फिर मन के कर्म जो जपादि हैं, उनका मैंने असहन किया अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक सम्पूर्ण कर्मों को त्याग करके मैं स्थित हो गया ॥ १ ॥

मूलम् ।

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः ।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

प्रीत्यभावेन, शब्दादेः, अदृश्यत्वेन, च, आत्मनः, विक्षेपैकाग्र-हृदयः, एवम्, एव, अहम्, आस्थितः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
शब्दादेः	शब्द आदि की
प्रीत्यभावेन	प्रीति के अभाव से
च	और
आत्मनः	आत्मा के
अदृश्यत्वेन	अदृश्यता से
विक्षेपैकाग्रहृदयः	विपक्षों से एकाग्र हुआ है मन जिसका
एवम् एव	ऐसा
अहम्	मैं
आस्थितः	सब तरफ से स्थित हूँ ॥

भावार्थ ।

अब तीन प्रकार के कर्मों के त्याग के हेतु को कहते हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक ये तीनों कर्म मन की एकाग्रता से विक्षेप के करनेवाले हैं। लोकान्तर की प्राप्ति करनेवाले जो यज्ञादि कर्म हैं, उनसे शरीर में विक्षेप होता है। शरीर में विक्षेप के होने से मन का निरोध नहीं हो सकता है। वाणी के कर्म जो निन्दा, स्तुति आदि हैं, उनसे भी मन का निरोध नहीं हो सकता है, और मन के जो जपादि कर्म हैं, वे भी मन के विक्षेप करनेवाले हैं। तीन कर्मों में जो प्रीति है, उसका त्याग करना आवश्यक है, आत्मा अदृश्य है अर्थात् ध्यानादिकों का अविषय है। आत्मा चेतन है, मन, बुद्धि आदि सब अचेतन हैं अर्थात् जड़ हैं। जड़ चेतन को विषय नहीं कर सकता है, इस वास्ते आत्मा के ध्यान करने की चिन्तारूपी विक्षेप भी मेरे को नहीं हैं और मैं सम्पूर्ण विक्षेपों से रहित होकर अपने स्वरूप में ही स्थित हूँ ॥ २ ॥

मूलम् ।

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये ।
एवं विलोक्य नियममेवमेवाहमास्थितः ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

समाध्यासादिविक्षिप्तौ, व्यवहारः, समाधये, एवम्, विलोक्य, नियमम्, एवम्, एव, अहम्, आस्थितः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
समाध्यासादिविक्षिप्तौ	सम्यक् अध्यास आदि करके विक्षेप होने पर
समाधये	समाधि के लिये
व्यवहारः	व्यवहार है
एवम् नियमम्	ऐसे नियम को
विलोक्य	देख करके
एवम् एव	समाधि-रहित
अहम्	मैं
आस्थितः	स्थित हूँ ॥

भावार्थ।

प्रश्न—किसी प्रकार के विक्षेप के न होने पर भी समाधि के लिये तो कुछ मन आदिकों को व्यापार करना ही पड़ेगा ?

उत्तर—कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनर्थों का हेतु जो अध्यास है, उसी से विक्षेप होता है। उस विक्षप के दूर करने के लिये समाधि के वास्ते मन आदिकों का व्यापार होता है, अन्यथा नहीं होता है। ऐसे नियम को देख करके प्रथम मैंने अध्यास को दूर कर दिया है, इस वास्ते समाधि के लिये भी मन आदि के व्यापार की कोई आवश्यकता नहीं है, किंतु समाधि से रहित अपने आत्मानंद में मैं स्थित हूँ ॥ ३ ॥

मूलम्।

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः।
अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः ॥ ४ ॥

पदच्छेदः।

हेयोपादेयविरहात्, एवम्, हर्षविषादयोः, अभावात्, अद्य, हे ब्रह्मन्, एवम्, एव, अहम्, आस्थितः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
हे ब्रह्मन्	हे प्रभो	अभावात्	अभाव से
हेयोपादेयविरहात्	त्याज्य और ग्राह्य वस्तु के वियोग से	अद्य	अब
एवम्	वैसे ही	अहम्	मैं
हर्षविषादयोः	हर्ष और विषाद के	एवम् एव	जैसा हूँ वैसा ही
		आस्थितः	स्थित हूँ ॥

भावार्थ ।

जनकजी फिर अपने अनुभव को कहते हैं कि हे प्रभो ! त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य वस्तु का अभाव होने से अर्थात् आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होने से न तो मुझ को कुछ त्याग करने योग्य रहा है, और न कुछ ग्रहण करने के योग्य रहा है, इस वास्ते हर्ष विषादादि भी मुझको नहीं हैं, क्योंकि हर्ष विषादादि भी ग्रहण और त्याग करने से ही होते हैं, इसी वास्ते अब मैं अपने स्वरूप में ही स्थित हुआ हूँ ॥ ४ ॥

मूलम् ।

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम् ।
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

आश्रमानाश्रमम्, ध्यानम्, चित्तस्वीकृतवर्जनम्, विकल्पम्, मम, वीक्ष्य, एतैः, एवम्, एव, अहम्, आस्थितः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
यत्	जो
आश्रमानाश्रमम्	आश्रम और अनाश्रम है
ध्यानम्	ध्यान है
च	और
चित्तस्वीकृतवर्जनम्	चित्त से स्वीकार की हुई वस्तु का त्याग है

अन्वयः।	शब्दार्थ।
एतैः	उन सबसे
उत्पन्नः	उत्पन्न हुए
मम	अपने
विकल्पम्	विकल्प को
वीक्ष्य	देख करके
अहम्	मैं
एवम्	इन तीनों से रहित
आस्थितः	स्थित हुआ हूँ ॥

भावार्थ।

शिष्य कहता है कि हे गुरो ! आश्रमों के धर्मों से और उनके फलों के सम्बन्ध से भी मैं रहित हूँ। अनाश्रमी जो त्यागी संन्यासी है, उनके धर्म जो दण्डादिकों का धारण करना है, उनके सम्बन्ध से भी मैं रहित हूँ और योगियों के धर्म जो धारण ध्यानादि हैं, उनसे भी मैं रहित हूँ, क्योंकि ये सब अज्ञानियों के लिये बने हैं, मैं इन सबका साक्षी चिद्रूप हूँ।

"यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विभिन्नं सर्वसाक्षिणम् ।
पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं च स्वप्रभम् ॥
परं तत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥"

जो पुरुष शरीर इन्द्रियादिकों से भिन्न और शरीरादिकों के साक्षी विज्ञान-स्वरूप, सुख-स्वरूप, स्वयं प्रकाश परम तत्त्व अपने आत्मा को जान लेता है, वह अतिवर्णाश्रमी कहलाता है। सो मैं वर्णाश्रमों से अतीत सबका साक्षी चिद्रूप हूँ ॥ ५ ॥

मूलम् ।

कर्मानुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा ।
बुद्ध्वा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

कर्मानुष्ठानम्, अज्ञानात्, यथा, एव, उपरमः, तथा, बुद्ध्वा, सम्यक्, इदम्, तत्त्वम्, एवम्, एव, अहम्, आस्थितः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यथा	जैसे
कर्मानुष्ठानम्	कर्म का अनुष्ठान
अज्ञानात्	अज्ञान से है
तथा	वैसा ही
उपरमः	कर्म का त्याग
एव	भी है
इदम्	इस तत्त्व को
सम्यक्	भली प्रकार
बुद्ध्वा	जान करके
अहम्	मैं
एवम् एव	कर्म करने और कर्म न करने की इच्छा को त्याग करके
आस्थितः	स्थित हूँ ॥

भावार्थ ।

जनकजी कहते हैं कि कर्मों का अनुष्ठान अज्ञानता से होता है, अर्थात् जिसको आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है, वही कर्मों का अनुष्ठान स्वर्गादि फल की प्राप्ति के लिए करता है, और आत्म के ज्ञान से ही पुरुष कर्म करने से उपराम को भी प्राप्त हो जाता है। जिसको आत्मा का साक्षात्कार हो गया है, वह न कर्म करता है, और न उनसे उपराम होता है, प्रारब्ध-वश से शरीरादि कर्मों को करता है अथवा नहीं करता है, ऐसा

जानकर ज्ञानी अपने नित्यानन्द-स्वरूप में स्थित रहता है ॥ ५ ॥

मूलम् ।

अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

अचिन्त्यम्, चिन्त्यमानः, अपि, चिन्तारूपम्, भजति, असौ, त्यक्त्वा, तद्भावनम्, तस्मात्, एवम्, एव, अहम्, आस्थितः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अचिन्त्यम्	ब्रह्म को	तस्मात्	इस कारण
चिन्त्यमानः	चिंतन करता हुआ	तद्भावनम्	उसचिन्ता की भावनाको
अपि	भी	त्यक्त्वा	त्याग करके
असौ	यह पुरुष	अहम्	मैं
चिन्तारूपम्	चिन्ता को	एवम् एव	ऐसे ही
भजति	भावना करता है	आस्थितः	स्थित हूँ ॥

भावार्थ ।

ब्रह्म अचिन्त्य है अर्थात् मन और वाणी से चिन्तन नहीं किया जा सकता है, पर जो आत्मवर्ग अचिन्त्यरूप का चिंतन करना है, उस चिन्तन की चिन्ता को भी त्याग करके मैं भावना-रूपी चिन्तन से रहित अपनी आत्मा में ही स्थित हूँ ॥ ७ ॥

मूलम्।

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ।
एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ॥ ८॥

पदच्छेदः।

एवम्, एव, कृतम्, येन, सः, कृतार्थः, भवेत्, असौ, एवम्, एव, स्वभावः, यः, सः, कृतार्थः, भवेत्, असौ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
येन	जिस पुरुष से
एवम् एव	क्रिया रहित
स्वरूपम्	स्वरूप
साधनवशात्	साधनों के वश से
कृतम्	किया गया है
सः असौ	वह पुरुष भी
कृतार्थः	कृतकृत्य
भवेत्	होता है

अन्वयः।	शब्दार्थ।
यः	जो
एवम् एव	ऐसा ही अर्थात् स्वतः ही
स्वभावः	स्वभाव वाला है
सः असौ	सो वह
कृतार्थः	कृतकृत्य
भवेत्	होता है
किंवक्तव्यम्	कहना ही क्या है॥

भावार्थ।

जिस पुरुष ने इस प्रकार संपूर्ण क्रियाओं से रहित अपने स्वरूप को जान लिया है, वही कृतार्थ अर्थात् जीवन्मुक्त होता है।

प्रश्न—जीवन्मुक्त का लक्षण क्या है?

उत्तर—'ब्रह्मैवाहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानेन निखिलकर्मबन्धविनिर्मुक्तो जीवन्मुक्तः।''

अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार के अपरोक्ष-ज्ञान से जो संपूर्ण कर्मों के बंधनों से छूट जाता है, वही जीवन्मुक्त है।

"देहापातानन्तरं मुक्तिः विदेहमुक्तिः।"

शरीर के पात होने के अनन्तर जो मुक्ति है, उसका नाम विदेह-मुक्ति है। तात्पर्य यह है कि साधनों से क्रम से जिसने संपूर्ण शरीर और इन्द्रियादिकों की क्रिया का त्याग किया है और आत्मानंद का अनुभव किया है, वही जीवन्मुक्त है ॥ ८ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां द्वादशं प्रकरणं समातप्म् ॥ १२ ॥

—:o:—

तेरहवाँ प्रकरण ।

—:o:—

मूलम् ।

अकिञ्चनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम् ।
त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

अकिञ्चनभवम्, स्वास्थ्यम्, कौपीनत्वे, अपि, दुर्लभम्, त्यागादाने, विहाय, अस्मात्, अहम्, आसे, यथासुखम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अकिञ्चनभवम्=	नहीं है कुछ, ऐसे विचार से पैदा हुई
स्वास्थ्यम्=	जो चित्त की स्थिरता, वह
कौपीनत्वे=	कौपीन के धारण करने पर
अपि=	भी
दुर्लभम्=	दुर्लभ है
अस्मात्=	इस कारण से
त्यागादाने=	त्याग और ग्रहण को
विहाय=	छोड़ करके
अहम्=	मैं
यथासुखम्=	सुख-पूर्वक
आसे=	स्थित हूँ ॥

भावार्थ ।

इस त्रयोदश प्रकरण में जीवन्मुक्त के फल का निरूपण करते हैं ।

सम्पूर्ण विषयों में जो आसक्ति है, उस आसक्ति के त्याग करने से जो चित्त की स्थिरता हुई है, वह स्थिरता कौपीनमात्र में आसक्ति करने में नहीं होती है, ऐसी स्थिरता अति दुर्लभ है। इसी कारण से शिष्य कहता है कि पदार्थों के त्याग करने में और ग्रहण करने में जो आसक्ति है, उसको भी त्याग करके आत्मानंद में स्थित हूँ ॥ १ ॥

मूलम् ।

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते ।
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम् ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

कुत्र, अपि, खेदः, कायस्य, जिह्वा, कुत्र, अपि, खिद्यते, मनः, कुत्र, अपि, तत्, त्यक्त्वा, पुरुषार्थे, स्थितः, सुखम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
कुत्र अपि	कहीं तो	मनः	मन
कायस्य	शरीर का	खिद्यते	खेद करता है
खेदः	दुःख है	अतः	इससे
कुत्र अपि	कहीं	तत्	तीनों को
जिह्वा	वाणी	त्यक्त्वा	त्याग करके
खिद्यते	दुःखी है	सुखम्	सुख-पूर्वक
कुत्र अपि	कहीं	स्थितः	स्थित हूँ ॥

भावार्थ ।

शारीरिक कर्मों में शरीर को खेद होता है, अर्थात् शरीर के जो कर्म चलना-फिरना, सोना-जागना, लेना-देना, ग्रहण-त्यागादि

हैं, उनके करने में शरीर को ही खेद होता है, और वाणी के कर्म जो सत्य मिथ्या भाषणादि हैं, उनके करने में जिह्वा को खेद होता है, और मन के कर्म जो संकल्प-विकल्पनादि का ध्यान धारणादि हैं उनके करने में मन को खेद होता है, इसलिए शिष्य कहता है कि उन तीनों के कर्मों का त्याग करके मैं अपने आत्मानन्द में स्थित हूँ ॥ २ ॥

मूलम् ।

कृतं किमपि नैव स्यादिति संचिन्त्य तत्त्वतः ।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वाऽऽसे यथासुखम् ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

कृतम्, किम्, अपि, न, एव, स्यात्, इति, संचिन्त्य, तत्त्वतः, यदा, यत्, कर्तुम्, आयाति, तत्, कृत्वा, आसे, यथासुखम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
कृतम्	शरीर आदि के द्वारा किया हुआ कर्म
किमपि	कुछ भी
एव	वास्तव में
न आत्मकृतम्	आत्मा से नहीं किया हुआ
स्यात्	होता है
इति	ऐसा
तत्त्वतः	यथार्थतः
संचिन्त्य	विचार करके
यदा	जब
यत्	जो
कर्तुम्	करने को
आयाति	आ पड़ता है
तत्	उसको
कृत्वा	करके
यथासुखम्	सुख-पूर्वक
आसे	मैं स्थित हूँ ॥

प्रश्न—कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के त्याग होने से शरीर का भी त्याग हो जायेगा; क्योंकि बिना कर्मों के भोजनादि क्रिया का त्याग होगा और बिना भोजन के शरीर रहेगा नहीं ?

उत्तर—शरीर और इन्द्रियादि से किया हुआ जो कर्म है, वह वास्तव में आत्मा से किया हुआ नहीं होता है। ऐसा चिंतन करके विद्वान् को जब शरीरादिकों के खान-पानादि कर्म करने पड़ते हैं, तब वह अहंकार से रहित होकर उन कर्मों को करता हुआ भी अपने सुख स्वरूप में ही रहता है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बंधभावा देहस्थयोगिनः ।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम् ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावाः, देहस्थयोगिनः, संयोगायोगविरहात्, अहम्, आसे, यथा, सुखम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावाः=	कर्म और निष्कर्म के बंधन से संयुक्त स्वभाववाले	संयोगायोगविरहात्=	देह के संयोग और वियोग के पृथक् होने के कारण
देहस्थयोगिनः=	देहविषे आसक्त योगी हैं	यथासुखम्=	सुख-पूर्वक
अहम्=	मैं	आसे=	स्थित हूँ ॥

भावार्थ ।

प्रश्न--कर्मों के करने में अथवा कर्मों के न करने में अर्थात् दोनों में से एक ही निष्ठा हो सकती है, दोनों में निष्ठा कैसे हो सकती है ?

उत्तर--कर्म और निष्कर्म का हठरूप स्वभाव उसी का होता है, जिसकी देह में आसक्ति है, जिसकी देहादिकों में आसक्ति नहीं है, उसको हठ नहीं होता है, हे प्रभो ! मेरा तो देह के संयोग और वियोग में भी हठ नहीं है। देह का संयोग बना रहे अथवा इसका वियोग हो जावे, मैं अहंकार और हठ से रहित अपनी आत्मा में स्थित हूँ ॥ ४ ॥

मूलम् ।

अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या वा शयनेन वा ।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपंस्तस्मादहमासे यथासुखम् ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

अर्थानर्थौ, न, मे, स्थित्या, गत्या, वा, शयनेन, वा, तिष्ठन्, गच्छन्, स्वपन्, तस्मात्, अहम्, आसे, यथासुखम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मे	मुझको	तस्मात्	इस कारण
स्थित्या	स्थिति में	अहम्	मैं
गत्या	चलने से	तिष्ठन्	स्थित होता हुआ
वा	या	गच्छन्	जाता हुआ
शयनेन	शयन से	स्वपन्	सोता हुआ
अर्थानर्थौ	अर्थ और अनर्थ	यथासुखम्	सुख-पूर्वक
न	कुछ नहीं है	आसे	स्थित हूँ ॥

भावार्थ।

शिष्य कहता है कि हे गुरो! लौकिक व्यवहार जो चलना, फिरना, बैठना, उठना आदि है, इसमें भी मेरी हानि तथा लाभ कुछ भी नहीं है, क्योंकि लौकिक व्यवहार में भी अभिमान से रहित हूँ, चाहे मैं सोता रहूँ, बैठा रहूँ अथवा चलता फिरता रहूँ, इन सब क्रियाओं में भी मैं अपने आत्मानन्द में एकरस ज्यों का त्यों स्थित रहता हूँ ॥ ५ ॥

मूलम्।

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥ ६ ॥

पदच्छेदः।

स्वपतः, न, अस्ति, मे, हानिः, सिद्धि, यत्नवतः, न, वा, नाशोल्लासौ, विहाय, अस्मात्, अहम्, आसे, यथासुखम् ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
मे	मुझ
स्वपतः	सोते हुए की
हानिः	हानि
न अस्ति	नहीं है
वा	और
न	न
मे	मुझ
यत्नवतः	यत्न करते हुए की
सिद्धिः	सिद्धि है
अस्मात्	इस कारण
अहम्	मैं
नाशोल्लासौ	हानि और लाभ को
विहाय	छोड़ करके
यथासुखम्	सुख-पूर्वक
आसे	स्थित हूँ ॥

भावार्थ ।

जनकजी कहते हैं कि यत्न से रहित होकर यदि मैं सोता ही रहूँ, तब भी मेरी कोई हानि नहीं है और यत्नविशेष करने से मेरे को किसी फल-विशेष की सिद्धि भी नहीं होती है, इस वास्ते मैं यत्न और अयत्न में भी हर्ष और शोक को त्याग करके सुख-पूर्वक स्थित हूँ । क्योंकि यत्न अयत्नादि सब देह, इन्द्रियों के धर्म हैं, मुक्त आत्मा के नहीं हैं ॥ ६ ॥

मूलम् ।

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः ।
शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः ।

सुखादिरूपानियमम्, भावेषु, आलोक्य, भूरिशः, शुभाशुभे, विहाय, अस्मात्, अहम्, आसे, यथासुखम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अस्मात्	इसलिये
भावेषु	बहुत जन्मों में
सुखादिरूपानियमम्	सुखादिरूप की अनित्यता को
भूरिशः	बारंबार
आलोक्य	देख करके
च	और
शुभाशुभे	शुभ और अशुभ को
विहाय	छोड़ करके
यथासुखम्	सुख-पूर्वक
आसे	स्थित हूँ ॥

भावार्थ ।

जनकजी कहते हैं कि अनेक जन्मों में मनुष्य और पशु

आदिकों के जितने भाव अर्थात् जन्म होते हैं, उनको जो सुख दुःखादिक प्राप्त होते हैं, वे सब अनित्य हैं, ऐसा बहुत स्थलों में देखा जाता है, क्योंकि संसार में सब देहधारियों को दुःख-सुख बराबर बने रहते हैं। कोई भी ऐसा देहधारी संसार में नहीं है, जो सदैव सुखी रहे, किन्तु यत्किञ्चित् काल सुख और बहुत काल दुःख रहता है। प्रथम तो जन्मकाल का दुःख फिर बाल्या-वस्था में अनेक प्रकार के रोगादिकों करके जन्य दुःख होता है। फिर स्त्री-पुत्रादिकों में मोह से दुःखों के समूह उत्पन्न होते हैं। फिर वृद्धावस्था तो दुःखों की खानि ही है। अनेक प्रकार के विषय-जन्य सुख-दुःखादिकों को अनित्य जानकर और उनके हेतु जो शुभाशुभ कर्म हैं, उनका त्याग करके अपने आत्मानन्द में स्थित हूँ ॥ ७ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां त्रयोदश प्रकरणं समाप्तम् ॥ १३ ॥

—:०:—

चौदहवाँ प्रकरण ।

—:०—

मूलम् ।

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाभावभावनः ।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

प्रकृत्या, शून्यचित्तः, यः, प्रमादात्, आभावभावनः, निद्रितः, बोधितः, इव, क्षीणसंसरणः, हि, सः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यः	जो पुरुष
प्रकृत्या	स्वभाव से
शून्यचित्तः	शून्य चित्त वाला
च	और
प्रमादात्	प्रमाद से
आभावभावनः	विषयों का सेवन करनेवाला है
च	और
निद्रितः	सोता हुआ
बोधित इव	जागते हुए के तुल्य है ऐसा
सः	वह पुरुष
क्षीणसंसरणः	संसार से रहित है ॥

भावार्थ ।

इस प्रकरण में जनकजी अपने शान्तिचतुष्टय को कहते हैं । जो पुरुष स्वभाव से विषयों में शून्य चित्तवाला है अर्थात् अपने स्वभाव से चित्त के धर्म जो विषयों में राग-द्वेष हैं, उनसे

जो रहित है और प्रारब्धकर्म्मों के वशीभूत होकर विषयों का चिन्तन भी करता है, और भोगता भी है, उसको हानि-लाभ कुछ नहीं है। इसी में दृष्टान्त को कहते हैं—

जैसे निद्रा के वश जो पुरुष शून्यचित्त होकर सो रहा है उसको किसी पुरुष ने जगाकर उससे कहा कि तू इस काम को कर। वह जागकर उस काम को तो करता है, परन्तु अपनी इच्छा के अनुसार नहीं करता है, किन्तु दूसरे पुरुष की प्रेरणा से वह काम करता है।

दार्ष्टान्त।

इसी प्रकार जो पुरुष शान्तिचित्त है, वह भी प्रारब्धवश से विषयों को भोगता है, अपनी इच्छा से नहीं भोगता है। जैसे कोई पुरुष अपने आनन्द में बैठा है, किसी सिपाही ने आकर उसको बेगार में पकड़कर उसके सिर पर गठरी रखवायी और वह पुरुष गठरी को उठाकर ले आता है, यदि न उठावे या कहीं रख देवे, तो सिपाही उसके कमची मारे। वह अपनी खुशी से उठाकर नहीं ले जाता है, किन्तु दूसरे की प्रेरणा से वह उठाकर लिये जाता है, वैसे ही ज्ञानवान् भी अपनी खुशी से तो विषय-भोगों को नहीं भोगता है, परन्तु प्रारब्धरूपी सिपाही की प्रेरणा से भोगता है, इसलिये उसको हानि-लाभ कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥

मूलम्।

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, धनानि, क्व, मित्राणि, क्व, मे, विषयदस्यवः, क्व, शास्त्रम्, क्व, च, विज्ञानम्, यदा, मे, गलिता, स्पृहा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यदा	जब
मे	मेरी
स्पृहा	इच्छा
गलिता	गलित हो गई है
तदा	तब
मे	मुझ को
क्व	कहाँ
धनादि	धन है
क्व	कहाँ
मित्राणि	मित्र हैं
क्व	कहाँ
विषयदस्यवः	विषय-रूपी चोर हैं
क्व	कहाँ
शास्त्रम्	शास्त्र है
च	और
क्व	कहाँ
विज्ञानम्	ज्ञान है ॥

भावार्थ ।

जनकजी कहते हैं कि विषयों की भावना से शून्य चित्तवाला मैं हूँ, मुझ पूर्णात्मदर्शी को जब विषय-भोगों की इच्छा नष्ट हो गई है, तब मेरा धन कहाँ है ? मेरे मित्र कहाँ हैं ? शास्त्र का अभ्यास कहाँ है ? और निदिध्यासनादि कहाँ है ? मेरी तो किसी में भी आस्थाबुद्धि नहीं रही ॥ २ ॥

मूलम् ।

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे ।
नैराश्ये बन्धमोक्षेच न चिन्ता मुक्तये मम ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

विज्ञाते, साक्षिपुरुषे, परमात्मनि, च, ईश्वरे, नैराश्ये, बन्धमोक्षे, च, न, चिन्ता, मुक्तये, मम ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
साक्षिपुरुषे=	'त्वं'-पद का अर्थ साक्षी पुरुष अर्थात् जीव है
च=	और
परमात्मनि=	'तत्'-पद का अर्थ परमात्मा है
ईश्वरे=	ईश्वर के
विज्ञाते=	जान लेने पर
नैराश्ये=	आशा-रहित
बन्धमोक्षे=	बन्ध के मोक्ष होने पर
मम=	मुझको
मुक्तये=	मुक्ति के लिए
चिन्ता=	चिन्ता
न=	नहीं है ॥

भावार्थ ।

देह और इन्द्रियों का साक्षी पुरुष 'त्वं' पद का अर्थ है, और 'तत्' पद का अर्थ जो परमात्मा ईश्वर है, इन दोनों के लक्ष्यार्थ चेतन का 'तत्त्वमसि' महावाक्य और भागत्यागलक्षणा से साक्षात्कार करने से और बंध और मोक्ष में भी इच्छा के अभाव होने से मुक्ति के निमित्त भी विद्वान् को कोई चिन्ता बाकी नहीं रहती है ।

प्रश्न—महावाक्य का लक्षण क्या है ? और लक्षणा का अर्थ क्या है ?

उत्तर—वेद में दो प्रकार के वाक्य हैं—एक अवान्तर्वाक्य है, दूसरे महावाक्य । दोनों के लक्षण को दिखाते हैं—

स्वरूपबोधकं वाक्यमवान्तर्वाक्यम् ।

आत्मा के स्वरूप का बोधक जो वाक्य है, उसका नाम अवान्तर्वाक्य है। जैसे—

"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म"

आत्मा ब्रह्मसद्रूप है, ज्ञान-स्वरूप है, अनन्त-स्वरूप है।

यह वाक्य तो केवल आत्मा के स्वरूप का ही बोधन करता है, इसी वास्ते इसका नाम अवान्तर्वाक्य है।

अभेदबोधकं वाक्यं महावाक्यम्।

अभेद का बोधक जो वाक्य है, उसी का नाम महावाक्य है। जैसे—

अहं ब्रह्मास्मि।

मैं ही ब्रह्म हूँ।

अयमात्मा ब्रह्म।

यह अपनी आत्मा ही ब्रह्म है।

तत्त्वमसि।

तत्—वही अर्थात् ईश्वर। त्वं—तुम अर्थात् जीव। असि—है, ये सब वाक्य जीव और ईश्वर की अभेदता का ही बोधन करते हैं, इसी से इनका नाम महावाक्य है।

अब लक्षणा को दिखाते हैं—

पद के अर्थ का ज्ञान दो तरह से होता हैं, एक तो शक्ति-वृत्ति से होता है, जैसे किसी ने किसी से कहा "घटमानय"

अर्थात् घट को लाओ। अब यहाँ पर 'घट'-पद की शक्ति कम्बु-ग्रीवादिवाली व्यक्ति में है, अर्थात् घड़े में है और लानेवाले को भी उसका ज्ञान है कि घड़े के लाने को दूसरा पुरुष कहता है। वह 'घटमानय' शब्द को सुनकर तुरन्त घड़े को उठा लाता है और यहाँ पर तो शक्ति-वृत्ति से पद के अर्थ का बोध होता है। और जहाँ पर शक्ति-वृत्ति से बोध नहीं होता है, वहाँ पर लक्षणावृत्ति से पद के अर्थ का बोध होता है, उसे दिखाते हैं।

शक्यसम्बन्धो हि लक्षणा।

शक्ति के आश्रय का नाम शक्य है, अर्थात् पद जिस अर्थ का बोधन करे, उस अर्थ का नाम शक्य है।

दृष्टान्त।

किसी ने एक ग्वाल से पूछा; तेरा मकान कहाँ है। उसने कहा—गंगायां घोषः। अर्थात् मेरा मकान गंगा में है।

अब यहाँ पर शक्तिवृत्ति से तो अर्थ नहीं बनता है, क्योंकि 'गंगा' पद की शक्ति प्रवाह में है, अर्थात् 'गंगा' पद का अर्थ जल का प्रवाह है। उस प्रवाह में मकान का होना असंभव है, इस वास्ते यहाँ पर जो लक्षणा से अर्थ का बोध होता है, उसको दिखाते हैं—'गंगा' पद का शक्य प्रवाह है, उसका सम्बन्ध तीर के साथ है, इस वास्ते गंगा के तीर पर इसका ग्राम है—गंगायां घोषः' इस पद से ऐसा बोध होता है। और तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणा में बीज है। जिस अर्थ में वक्ता के तात्पर्य की असिद्धि

हो, वहाँ पर ही लक्षणा होती है। 'गंगायां घोषः' यहाँ पर गंगा के प्रवाह में मेरा ग्राम है, ऐसा वक्ता का तात्पर्य नहीं है, क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता है, इसी वास्ते—'गंगायां घोषः' में लक्षणा होती है।

अब लक्षणा के भेद को दिखलाते हैं—

वाच्यार्थमशेषतया परित्यज्य तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिर्जहल्लक्षणा।

जहाँ पर वाच्यार्थ का समग्ररूप से त्याग करके तत्सम्बन्धी अर्थान्तर में वृत्ति हो, वहाँ पर जल्हलक्षणा होती है। जैसे—गंगायां घोषः। यहाँ पर गंगा पद का वाच्यार्थ जो प्रवाह है, उसका समग्ररूप से त्याग करके उसके साथ सम्बन्धवाला जो तीर है, उस तीर में गंगा पद की लक्षणा होती है, अर्थात् गंगा के तीर पर इसका ग्राम है। घोष नाम अहीरों के ग्राम का है।

वाच्यार्थापरित्यागेन तत्सम्बन्धिन्यर्थान्तरे वृत्तिरजहल्लक्षणा।

जहाँ पर वाच्यार्थ का त्याग न करके उसके सम्बन्धवाले का भी ग्रहण हो, वहाँ पर अजहल्लक्षणा होती है।

किसी के गृह में दण्डी सन्यासियों का निमन्त्रण था। वहाँ पर जाकर दण्डी लोग बाहर बैठे। जब भोजन तैयार हुआ, तब मालिक ने अपने नौकर से कहा कि—यष्टी प्रवेश्य। अर्थात् लाठी का भीतर प्रवेश कराओ।

अब यहाँ पर लाठी का भीतर प्रवेश तो बन सकता है, परन्तु उसमें वक्ता का तात्पर्य नहीं है, किन्तु यष्टिधर के प्रवेश कराने में वक्ता का तात्पर्य है, इस वास्ते 'यष्टी'-पद का वाच्यार्थ यष्टि है, उसका त्याग न करके उसके साथ सम्बन्धवाला जो पुरुष है, उस पुरुष में जो लक्षणा करनी है, इसी का नाम अजहल्लक्षणा है।

वाच्यार्थैकदेशपरित्यागें नैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा।

अर्थात् वाच्यार्थ के एकदेश को त्याग करके एकदेश का ग्रहण करना जो है, इसी का नाम जहत् अजहत् लक्षणा है जैसे—'तत्त्वमसि'।

यहाँ पर 'तत्' पद का वाच्यार्थ सर्वज्ञत्वादिक गुणों से युक्त ईश्वर चेतन है, और 'त्वं' पद का वाच्यार्थ अल्पज्ञत्वादि के गुणों से युक्त जीव चेतन है। 'तत्' वह सर्वज्ञत्वादि गुणवाला ईश्वर 'त्वं' तू अल्पज्ञत्वादि गुणवाला जीव, ये जो दोनों के वाक्यार्थ हैं इनका अभेद नहीं हो सकता है, पर दोनों का लक्ष्यार्थ जो गुणों से रहित केवल चेतन है, उसी का अभेद हो सकता है, सो अभेद जहद् अजहद् अर्थात् भागत्यागलक्षणा से ही होता है। तत्पद के वाच्यार्थ का जो एकदेश सर्वज्ञत्वादि गुण हैं, उनके त्याग करने से, और त्वं पद के वाच्यार्थ का जो एकदेश अल्प-ज्ञत्वादि गुण हैं उनके भी त्याग करने से, दोनों पदों विषे एक जो लक्ष्यार्थ चेतन स्थित है, उसके ग्रहण करने से दोनों का अर्थात् ईश्वर और जीव का अभेद केवल चेतन में

होता है, वह जिस विद्वान् ने महावाक्यों से और भागत्याग-लक्षणा से जीव ईश्वर की अभेदता को जान लिया है, वही मुक्त है, उसको मुक्ति की कोई चिन्ता नहीं है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः ।
भ्रान्तस्येव दशास्तास्तास्तादृशा एव जानते ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

अन्तर्विकल्पशून्यस्य, बहिः, स्वच्छन्दचारिणः, भ्रान्तस्य, इव, दशाः, ताः, ताः, तादृश, एव, जानते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अन्तर्विकल्पशून्यस्य=	जो अंतःकरण में विकल्प से शून्य है	स्वच्छन्दचारिणः=	स्वतंत्र चलनेवाले की
च=	और (जो)	ताः ताः=	उन उन
वहिः=	बाहर	दशाः=	दशाओं को
भ्रान्तस्य इव=	भ्रान्त हुए पुरुष की समान हे ऐसे	तादृशाः एव=	वैसे ही दशावाले पुरुष
		जानते=	जानते हैं ॥

भावार्थ ।

जिस पुरुष का अन्तःकरण विकल्प अर्थात् संकल्प से रहित है, अर्थात् जिसको कोई भी विषय-वासना भीतर से नहीं

स्फुरित होती है, और बाहर से जो उन्मत्त की तरह स्वेच्छा-
पूर्वक विहार करता है, वही ज्ञानी है। उसको ज्ञानी पुरुष ही
जानता है, दूसरा अज्ञानी पुरुष नहीं जान सकता है ॥ ४ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां चतुर्दशप्रकरणं समाप्तम् ॥

—:o:—

पन्द्रहवाँ प्रकरण ।

—:o:—

मूलम् ।

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान् ।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

यथातथोपदेशेन, कृतार्थः, सत्त्वबुद्धिमान्, आजीवम्, अपि, जिज्ञासुः, परः; तत्र, विमुह्यति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सत्त्वबुद्धिमान्	सत्त्वबुद्धिवालापुरुष
यथातथोपदेशेन	जैसे-जैसे याने थोड़े ही उपदेश से
कृतार्थः	कृतार्थ
भवति	होता है
परः	असत् बुद्धिवाला पुरुष
आजीवम्	जीवनपर्यन्त
जिज्ञासुः अपि	जिज्ञासु होता हुआ भी
तत्र	उसमें
विमुह्यति	मोह को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

अब तत्त्वोपदेशविंशतिक नामक पंचदश प्रकरण का आरम्भ करते हैं—

अष्टावक्रजी जनकजी की ज्ञानस्थिति के लिये पुनः-पुनः उपदेश करते हैं। क्योंकि 'छांदोग्योपनिषद्' में श्वेतकेतु के प्रति, श्वेतकेतु के पिता ने नव बार आत्मतत्त्व का उपदेश किया है।

प्रथम ज्ञान के अधिकारी और अनधिकारी को दिखाते हैं—

उत्तम बुद्धिमान् शिष्य सामान्य उपदेश से आत्म-बोध को प्राप्त हो जाता है अर्थात् कृतार्थ हो जाता है। सतयुग में केवल ओंकार के उपदेश से उत्तम शिष्य कृतार्थ हो गये हैं और निकृष्टबुद्धिवाला शिष्य मरणपर्यन्त उपदेश को सुनता रहता है, पर उसको यथार्थ बोध नहीं होता है। जैसे विरोचन को ब्रह्मा ने अनेक बार उपदेश किया तो भी वह बोध को न प्राप्त हुआ।

संसार में तीन प्रकार के अधिकारी हैं। एक तो उत्तम अधिकारी है, जिसको एक बार गुरु के मुख से यह वाक्य के श्रवण करने से बोध हो जाता है। दूसरा मध्यम अधिकारी है, जिसको बारबार श्रवण, मननादि के करने से बोध होता है। तीसरा निकृष्ट अधिकारी है, जो चिरकाल तक शास्त्रों का श्रवण और उपासना आदि को करके बोध को प्राप्त होता है।

मोक्ष के अधिकारियों को दिखलाते हैं—

शान्तो दान्तः क्षमी शूरः सर्वेन्द्रियसमन्वितः।
असक्तो ब्रह्मज्ञानेच्छुः सदा साधुसमागमः॥
साधुबुद्धिः सदाचारी यो भेदः सर्वदैवते।
आशापाशविनिर्मुक्तस्त्वेते मोक्षाधिकारिणः॥

जो शान्त चित्त है, जो इन्द्रियों को दमन करनेवाला है, परन्तु संपूर्ण इन्द्रियों से युक्त है, जो पदार्थों में आसक्ति से रहित है, जो ब्रह्मज्ञान की इच्छावाला होकर सदैव महात्माओं का संग करता है, जो सुन्दर बुद्धिवाला और

श्रेष्ठाचारवाला है, जो संपूर्ण देवताओं में एक ही चेतन को जानता है, जो विषयों के आशा-रूपी पास से रहित है, वह मोक्ष का अधिकारी है। जिसमें ऊपर कहे हुए गुणों में से कोई भी गुण नहीं घटता है, वह मोक्ष का अधिकारी नहीं है ॥ १ ॥

मूलम् ।

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः ।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

मोक्षः, विषयवैरस्यम्, बन्धः, वैषयिकः, रसः एतावत्, एव, विज्ञानम्, यथा, इच्छसि, तथा कुरु ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
विषयवैरस्यम्	विषयों से वैराग्य	एतावत् एव	इतना ही
मोक्षः	मोक्ष है	विज्ञानम्	ज्ञान है
वैषयिकः	विषय-सम्बन्धी	यथा इच्छसि	जैसा चाहे
रसः	रस	तथा	वैसा
बन्धः	बन्ध है	कुरु	करो ।

भावार्थ ।

अब बंध और मोक्ष के उपाय को संक्षेप से निरूपित करते हैं—

विषयों में जो अनुराग है वही बंध है और विषयों में जो अनुराग का त्याग है, वही मोक्ष है। ऐसा कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बंधाय विषयासक्त मुक्त्यै निर्विषये स्मृतम् ॥

मनुष्यों का मन ही बंध और मोक्ष का कारण है । विषयों में जब मन आसक्त हो जाता है, तब वह मन बंध का हेतु होता है । जब विषयों की आसक्ति से रहित होता है, तब वही मन मुक्ति का हेतु होता है ॥

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! इतना ही बंध-मोक्ष का विशेष ज्ञान है । इसको तुम भली प्रकार जानकर जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा तुम करो ॥ २ ॥

मूलम् ।

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम् ।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगम्, जनम्, मूकजडालसम्, करोति, तत्त्व-बोधः, अयम्, अतः, त्यक्तः, बुभुक्षुभिः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अयम्	यह
तत्त्वबोधः	तत्त्वज्ञान
वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगम्	अत्यन्त बोलने वाले पण्डित महाउद्योगी
जनम्	पुरुष को
मूकजडालसम्	गूँगा जड़ और आलसी
करोति	करता है
अतः	इसी कारण
बुभुक्षुभिः	भोगाभिलाषी पुरुषों के द्वारा
अयम्	यह
त्यक्तः	त्याग किया गया है ॥

हे प्रियदर्शन ! तत्त्वज्ञान के सिवा किसी अन्य उपाय से विषयासक्ति का नाश नहीं होता है। यह जो आत्मबोध है, वह बहुत बोलचालवाले चतुर को मूक कर देता है, और जो बड़ा बुद्धिमान् अनेक प्रकार के ज्ञान करके से हो, उसको जड़ बना देता है, और बड़े उद्योगी को क्रिया से रहित आलसी बना देता है। मन का अन्तर आत्मा की तरफ प्रवाह होने से सब इन्द्रियाँ ढीली हो जाती हैं अर्थात् अपने-अपने विषयों के ग्रहण करने में असमर्थ हो जाती हैं। यह तत्त्वबोधवाक्यादि संपूर्ण इन्द्रियों को बेकाम कर देता है। इसी वास्ते विषय-भोगों की कामनावाला पुरुष इसका आदर नहीं करता है, किन्तु वह आत्मज्ञान के साधनों से हजारों कोस भागता है॥ ३॥

मूलम्।

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर॥ ४॥

पदच्छेदः।

न, त्वम्, देहः, न, ते, देहः, भोक्ता, कर्ता, न, वा, भवान्, चिद्रूपः, असि, सदा, साक्षी, निरपेक्षः, सुखम्, चर॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
त्वम्=तुम	
देहः=शरीर	
न=नहीं है	
न=न	
भोक्ता कर्त्ता=भोक्ता और कर्त्ता	
न=नहीं है	
चिद्रूपः=चैतन्य रूप है	
सदा=नित्य	

ते-तुम्हारा
देहः-शरीर है
वा-और
भवान्-आप
साक्षी-साक्षी है
निरपेक्षः-इच्छा-रहित
सुखम्-सुख-पूर्वक
चर-विचर ॥

भावार्थ।

तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिये अष्टावक्रजी फिर उपदेश करते हैं।

हे जनक ! तुम पंचभूतात्मक देह नहीं हो, क्योंकि देह जड़ है और अनित्य है, तुम नित्य हो, चैतन्य-स्वरूप हो तुम्हारा देह के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

'असंगोह्ययं पुरुष' इति श्रुतेः ।

यह पुरुष अर्थात् जीवात्मा असंग है, देहादिकों के साथ सम्बन्ध से रहित है। इसी श्रुतिप्रमाण से तुम संयोगादि सम्बन्धों से रहित हो और तुम कर्ता भोक्ता भी नहीं हो, क्योंकि कर्तापना और भोक्तापना ये दोनों अंतःकरण के धर्म हैं। तुम उन दोनों के भी साक्षी हो और ऐसा नियम भी है जो जिसका साक्षी होता है, वह उससे भिन्न होता है। जैसे घट का साक्षी घट से भिन्न है वैसे कर्ता भोक्ता जो अंतःकरण है, उनका साक्षी भी उनसे भिन्न है। इसमें दृष्टांत को कहते हैं—

जैसे नृत्यशाला में स्थित दीपक शाला के स्वामी को, सभा-वालों को और नर्तकी को तुल्य ही प्रकाश करता है। यह शरीर तो नृत्यशाला है, अहंकार उसमें सभापति है, और विषय सब सभ्य हैं, याने सभा में बैठनेवाले हैं, और बुद्धि उसमें नर्तकी है,

अर्थात् नाचनेवाली वेश्या है, इन्द्रियगण सब ताल बजानेवाले हैं, चेतन आत्मा साक्षी सबका प्रकाशक है। जैसे दीपक अपने स्थान में स्थित होकर सबको प्रकाश करता है, वैसे चेतन भी अचल स्थित साक्षी-रूप होकर सबको प्रकाश करता है।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक! देह में जो इन्द्रिय और अहंकारादि हैं, उनको तुम अपने को साक्षी मानकर सुख-पूर्वक विचरण करो ॥ ४ ॥

मूलम्।

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसिबोधात्मा निर्विकारः सुखं चर ॥ ५ ॥

पदच्छेदः।

रागद्वेषौ, मनोधर्मौ, न, मनः, ते, कदाचन, निर्विकल्पः, असि, बोधात्मा, निर्विकारः, सुखम्, चर ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
रागद्वेषौ	राग और द्वेष	ते	तुम्हारा है
मनोधर्मौ	मन के धर्म हैं	त्वम्	तुम
न ते	तुम्हारे नहीं हैं	निर्विकल्पः	विकल्प रहित
मनः	मन	निर्विकारः	विकार-रहित
कदाचन	कभी	बोधात्मा	बोधस्वरूप
न	नहीं	असि	हो ॥

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक! राग-द्वेषादि सब मन के धर्म हैं, तुझ आत्मा के धर्म नहीं हैं। अन्यत्र भी कहा है—

शत्रुर्मित्रमुदासीनो भेदाः सर्वे मनोगताः ।
एकात्मत्वे कथं भेदः संभावेद्द्वैतदर्शनात् ॥

यह शत्रु है, यह मित्र है, यह न शत्रु है न मित्र है—ये सब मन के ही धर्म हैं । अद्वैतदर्शी की दृष्टि में भेद कहाँ हो सकता है, द्वैतदर्शन से ही भेद होता है ॥ १ ॥

हे जनक ! मन का सम्बन्ध कदापि तुम्हारे साथ नहीं है, मन के अध्यास से तुम रागादिकों में अध्यास मत करो ।

प्रश्न—रागद्वेष भी मुझ आत्मा ही के धर्म क्यों न हों ?

उत्तर—रागद्वेषादि तुम्हारे धर्म नहीं हो सकते हैं, क्योंकि तुम ज्ञान-स्वरूप हो । यदि यह कहा जाय कि रागद्वेषादि आत्मा के ही धर्म हैं, तो वे आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं, या आगन्तुक धर्म हैं, या आध्यासिक धर्म हैं ।

वे स्वाभाविक धर्म तो हो नहीं सकते, क्योंकि श्रुतियों में और स्मृतियों में आत्मा को निर्धर्मक लिखा है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं विचार्य्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

आत्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि से रहित है, नाश से, गंध से भी रहित है, नित्य है, न उसका आदि है और न उसका अन्त है, महत्तत्त्व से परे हैं; ऐसे आत्मा को जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है ॥

इस तरह की अनेक श्रुतियाँ आत्मा को निर्धर्मक बताती हैं—

शुद्धो मुक्तः सदैवात्मा न वै बध्येत कर्हिचित् ।
बन्धमोक्षौ मनःसंस्थौ तस्मिञ्च्छान्ते प्रशाम्यति ।।

आत्मा शुद्ध है, मुक्त है, बंध से रहित है। बंध मोक्षादि धर्म सब मन में ही स्थित रहते हैं। मन के शान्त होने से सब शान्त हो जाते हैं। इस तरह की अनेक स्मृतियाँ भी आत्मा को रागद्वेषादिकों से रहित बताती हैं ।।

यदि रागद्वेषादिक आत्मा के स्वाभाविक धर्म माने जावें, तब मोक्ष किसी को कदापि नहीं होगा, क्योंकि स्वाभाविक धर्म की निवृत्ति किसी उपाय से भी नहीं होती है, केवल आध्यासिक धर्म उपाय से नाश होता है। आध्यासिक धर्म एक के सम्बन्ध से दूसरे में प्रतीत होने लगता है। सम्बन्ध के नाश होने से उसका भी नाश हो जाता है, जैसे बिल्लौर पत्थर के समीप लाल पुष्प के रखने से उसमें लाल रंग जो कि पुष्प का धर्म है, प्रतीत होने लगता है और जब पुष्प दूर कर दिया जाता है, तो लाल रंग जो उस पत्थर में दिखाई देता था, लोप हो जाता है। आत्मा में अन्तःकरण के धर्म रागद्वेषादिक आध्यासिक हैं; स्वाभाविक नहीं हैं, इसलिये दूर हो सकते हैं ।। ५ ।।

मूलम् ।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव ।। ६ ।।

पदच्छेदः ।

सर्वभूतेषु, च, आत्मानम्, सर्वभूतानि, च, आत्मनि, विज्ञाय, निरहंकारः, निर्ममः, त्वम्, सुखी, भव ।।

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
सर्वभूतेषु	सब भूतों में	निरहंकारः	अहंकार-रहित
आत्मानम्	आत्मा को	च	और
च	और	निर्मम	ममता-रहित
सर्वभूतानि	सब भूतों को	त्वम्	तुम
आत्मनि	आत्मा में	सुखी	सुखी
विज्ञाय	जान करके	भव	हो

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक! ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यंत संपूर्ण भूतों में कारण-रूप से अनुस्यूत एक ही आत्मा को जानकर, और संपूर्ण भूत प्राणियों को आत्मा में अध्यस्त अर्थात् कल्पितमान करके अहंकार और ममता से रहित होकर तुम सुख-पूर्वक विचरण करो॥ ६॥

मूलम्।

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।
तत्त्वमेव न संदेहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव॥ ७॥

पदच्छेदः।

विश्वम्, स्फुरति, तत्र, इदम्, तरंगा, इव, सागरे, तत्, त्वम्, एव, न, संदेहः, चिन्मूर्ते, विज्वरः, भव॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
यत्र	जिस स्थान में	तरंग इव सागरे	समुद्र में तरंगों की तरह
इदम्	वह	स्फुरति	स्फुरण होता है
विश्वम्	संसार		

तत्=वह
त्वम् एव=तुम ही
न संदेह=इसमें संदेह नहीं
चिन्मूर्तें=हे चैतन्य-रूप
विज्वर=संताप-रहित
भव=हो ॥

भावार्थ ।

हे जनक ! जिस अधिष्ठान चेतन में यह सारा जगत् समुद्र में तरंग की तरह अभिन्न स्फुरण हो रहा है, वही चेतन तुम्हारा आत्मा है, इस वास्ते हे जनक ! तुम विगतज्वर होकर ऐसा अनुभव करो कि मैं चैतन्य-स्वरूप हूँ और संतापों से रहित हूँ ॥

मूलम् ।

श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः ।
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

श्रद्धत्स्व, तात, श्रद्धत्स्व, न, अत्र, मोहम्, कुरुस्व, भोः, ज्ञान-स्वरूपः, भगवान्, आत्मा, त्वम्, प्रकृतेः, परः ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

तात=हे सौम्य !
भोः=हे
श्रद्धत्स्व श्रद्धत्स्व = { श्रद्धा करो
अत्र=इसमें
मोहम्=मोह
न कुरुष्व=मत करो

अन्वयः । शब्दार्थ ।

त्वम्=तुम
ज्ञानस्वरूपः=ज्ञान-रूप
भगवान्=ईश्वर
आत्मा=परमात्मा
प्रकृतेः=प्रकृति से
पर=परे हैं ॥

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे तात ! आत्मा की चिद्रूपता में अहंभावना और विपरीतभावना-रूपी मोह को मत प्राप्त हो, क्योंकि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है और प्रकृति से भी परे है।

प्रश्न—चित्-पद का क्या अर्थ है ? और ज्ञान-पद का क्या अर्थ है ?

उत्तर—साधनान्तरनैरपेक्ष्येण स्वयं प्रकाशमानतया इतर-पदार्थावभासकं यत् तच्चित् ।

जो अपने से भिन्न किसी और साधन की अपेक्षा न करके अपने प्रकाश से इतर पदार्थों को प्रकाशित करे, उसी का नाम चित्त है।

अज्ञाननाशकत्वे सति स्वात्मबोधकत्वं ज्ञानम् ।

जो अज्ञान को नाश करके अपने आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करे, उनका नाम आत्म-ज्ञान है।

अर्थप्रकाशो हि ज्ञानम् ।

जो पदार्थ को प्रकाशित करे उसी का नाम ज्ञान है, वही आत्मा चेतन-रूप ज्ञान-स्वरूप है।

अब जड़ और चेतन के भेद को सुगम रीति से दिखलाते हैं—

जो अपने को जाने और अपने से भिन्न भी सब पदार्थों को जाने, वही चेतन कहलाता है और जो अपने को न जाने और अपने से भिन्न भी किसी पदार्थ को न जाने, वह जड़ कहलाता है, वह आत्मा चेतन है। क्योंकि अपने को जानता है और अपने से भिन्न सम्पूर्ण घट पटादि जड़ पदार्थों को भी जानता है, इसी

से आत्मा चेतन है और आत्मा से भिन्न संपूर्ण घट-पटादिक पदार्थ जड़ हैं। घट-पटादि अपने को नहीं जानते हैं और अपने से भिन्न आत्मा को भी नहीं जानते हैं इसी से वे सब जड़ हैं, हे शिष्य ! तुम ज्ञान और चैतन्य-स्वरूप हो ॥ ८ ॥

मूलम् ।

गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च ।
आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि ॥ ९ ॥

पदच्छेदः ।

गुणैः, संवेष्टितः, देहः, तिष्ठति, आयाति, याति, च, आत्मा, न, गन्ता, न आगन्ता, किम्, एनम्, अनुशोचसि ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
गुणैः	गुणों से	आत्मा	जीवात्मा
संवेष्टितः	लिपटा हुआ	न	न
देहः	शरीर	गन्ता	जाने वाला है
तिष्ठति	स्थित है	न	न
+सः	वह	आगन्ता	आने वाला है
आयाति	आता है	किम्	किस वास्ते
च	और	एनम्	इसके निमित्त
याति	जाता है	अनुशोचसि	तू सोचता है ॥

भावार्थ ।

हे शिष्य ! इन्द्रियादि से संवेष्टित होकर यह लिंग-शरीर इस लोक में स्थित रहता है। फिर कुछ काल के बाद लोकान्तर को चला जाता है। फिर वहाँ से चला आता है। आत्मा न लोकान्तर को, न देशान्तर को जाता है, न वहाँ से आता है और स्थूल शरीर जन्म लेता और मरता है। उसके धर्मों को आत्मा

में मानकर तू शोच करने के योग्य नहीं है। क्योंकि वह तेरे में अध्यस्त है। अध्यस्त वस्तु के नाश होने से तुझे अधिष्ठान का नाश नहीं हो सकता है।

प्रश्न—आपने कहा है कि आत्मा लोकान्तर को नहीं जाता किंतु लिङ्ग शरीर ही लोकान्तर और देशान्तर को जाता है, वह विना आत्मा के लिङ्ग शरीर का गमनागमन नहीं बन सकता है? लिङ्ग शरीर जड़ है उसमें सुख-दुःख का भोगना भी नहीं हो सकता?

उत्तर—गमनागमन परिच्छिन्न वस्तु में होता है, व्यापक में नहीं होता है। लिंग-शरीर परिच्छिन्न है इस वास्ते इसी का गमनागमन होता है। आत्मा व्यापक है उसका गमनागमन नहीं हो सकता है, व्यापक जल से भरे हुए घट का देशान्तर में ले जाना हो सकता है, व्यापक आकाश का नहीं, क्योंकि आकाश तो सब जगह मौजूद है। यहाँ पर घट जावेगा वहाँ पर आकाश का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ेगा। वैसे ही जहाँ जहाँ लिंग-शरीर जाता है, वहाँ उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उस चेतन के प्रतिबिम्ब से युक्त अन्तःकरण सुख दुःखादि का भोक्ता और कर्त्ता भी कहा जाता है। उसमें ज्ञान-शक्ति और इच्छा-शक्ति भी हो जाती है। उसी अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चेतन का नाम ही जीव हो जाता है।

जीव का लक्षण पञ्चदशीकार ने ऐसा किया है कि लिंग शरीर, उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब और उसका आश्रय अधिष्ठान चेतन, तीनों का नाम जीव है। माया और माया

में प्रतिबिम्ब, और माया का अधिष्ठान चेतन तीनों का नाम ईश्वर है। जीव और ईश्वर का भेद उपाधियों से है, वास्तव में भेद नहीं है। जैसे घटाकाश और मठाकाश का उपाधिकृत भेद है, वैसे जीव और ईश्वर का भी उपाधिकृत भेद है, वास्तव में भेद नहीं है। उपाधियाँ कल्पित हैं अर्थात् मिथ्या हैं। चेतन नित्य है, वही चेतन तुम्हारा रूप आप है, ऐसा जानकर तुम शोक करने के योग्य नहीं हो ॥ ९ ॥

मूलम् ।

देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः ।
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः ॥ १० ॥

पदच्छेदः ।

देहः, तिष्ठतु, कल्पान्तम्, गच्छतु, अद्य, एव, वा, पुनः, क्व, वृद्धिः, क्व, च, वा, हानिः, तव, चिन्मात्ररूपिणः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
पुनः	चाहे	चिन्मात्ररूपिणः	चैतन्य रूपवाले की
देहः	शरीर	क्व	कहाँ
कल्पान्तम्	कल्प के अन्त तक	वृद्धिः	वृद्धि है
तिष्ठतु	स्थिर रहे	च	और
वा	चाहे	क्व	कहाँ
अद्य एव	अभी	हानि	हानि है ॥
गच्छतु	नाश हो		
तव	तुझे		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! द्रष्टा द्रव्य से पृथक्

होता है, यह नियम है। देह द्रव्य है, तुम द्रष्टा हो। देह के साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। चाहे यह तुम्हारा स्थूल देह कल्पपर्यंत स्थिर रहे, चाहे अभी गिर जाय। देह के स्थिर रहने से तुम्हारी स्थिति नहीं है और देह के गिर जाने से तुम्हारा नाश नहीं है। देह की वृद्धि से तुम्हारी वृद्धि नहीं, क्योंकि देह से तुम परे हो। देह मिथ्या है, तुम सत्य हो। देह को भी तुम सत्ता स्फूर्ति देनेवाले हो। देह के भी तुम साक्षी हो, ऐसा निश्चय करके तुम जीवन्मुक्त होकर विचरण करो।

मूलम्।

त्वय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः ॥ ११ ॥

पदच्छेदः।

त्वयि, अनन्तमहाम्भोधौ, विश्ववीचिः, स्वभावतः, उदेतु, वा, अस्तम्, आयातु, न, ते, वृद्धिः, न, वा, क्षतिः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
अनन्तमहाम्भोधौ	अपार महा-समुद्र में	अस्तम्	अस्त को
विश्ववीचिः	विश्व-रूप तरंग	आयातु	प्राप्त हो
स्वभावतः	स्वभाव से	परन्तु	परन्तु
उदेतु	उदय हो	ते	तेरी
या	और	वृद्धिः न	न वृद्धि है
		वा	और
		न क्षति	न नाश है ॥

भावार्थ ।

हे जनक ! तुम्हारा स्वरूप अनन्त चिन्मात्र-रूपी समुद्र है। उसमें अविद्या और कामुक कर्मों से यह विश्व-रूपी लहरी उत्पन्न हुई है। तुम्हारे स्वरूप में यह विश्व-रूपी लहरी उदय हो, अथवा अस्त हो, तुम्हारी कोई हानि-लाभ नहीं है, क्योंकि तुम अधिष्ठान चेतन हो, अधिष्ठान को उसी में कल्पित वस्तु हानि नहीं कर सकती है। जो कभी हुई ही नहीं है, वह दूसरे को क्या हानि कर सकती है ॥ १२ ॥

मूलम् ।

तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत् ।
अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ १२ ॥

पदच्छेदः ।

तात, चिन्मात्ररूपः, असि, न, ते, भिन्नम्, इदम्, जगत्, अतः, कस्य, कथम्, कुत्र, हेयोपादेयकल्पना ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
तात	हे तात !	अतः	इसलिये
चिन्मात्ररूपः	चैतन्यरूप	कस्य	किसकी
असि	तुम हो	कथम्	क्योंकर
ते	तुम्हारा	च	और
इदम्	यह	कुत्र	कहाँ
जगत्	जगत	हेयोपादेय-कल्पना	त्याज्य और ग्राह्य की कल्पना है।
भिन्नम्	तुमसे भिन्न		
न	नहीं है		

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे तात ! तुम चैतन्यस्वरूप हो। तुम्हारे में हेय और उपादेय अर्थात् त्याग और ग्रहण किसी वस्तु का भी नहीं बनता है, क्योंकि तुम से भिन्न यह जगत् नहीं है। कल्पित वस्तु अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती है। उसका हेय और उपादेय कैसे हो सकता है ॥ १२ ॥

मूलम्।

एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि।
कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहंकार एव च ॥ १३ ॥

पदच्छेदः।

एकस्मिन्, अव्यये, शान्ते, चिदाकाशे, अमले, त्वयि, कुतः, जन्म, कुतः, कर्म, कुतः, अहंकारः, एव, च ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
एकस्मिन्=	तुझ एक में	जन्म कुतः=	जन्म कहाँ है
अमले=	निर्मल	कर्म कुतः=	कर्म कहाँ है
अव्यये=	अविनाशी	च एव=	और
शान्ते=	शान्त	अहंकारः कुतः=	अहंकार कहाँ है ॥
चिदाकाशे=	चैतन्य-रूप आकाश में		

भावार्थ।

हे जनक ! सजातीय और विजातीय स्वगत-भेद से शून्य, नाश और विकार से रहित, चिदाकाश निर्मल तुम्हारे स्वरूप में न जन्म है, न मरण है, न कोई कर्म है, न अहंकार है, ये

सब द्वैत में ही होते हैं । द्वैत तुम्हारा रूप तीनों कालों में नहीं है इसी से तुम्हारे जन्म और विकार के अभाव होने से कर्तृत्वादि का भी अभाव है । शुद्ध होने से तुझ में अहंकार का भी अभाव है । तुम्हारा स्वरूप ज्यों का त्यों एकरस है ॥ १३ ॥

मूलम् ।

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे ।
किं पृथग्भासते स्वर्णात्कटकांगदनूपुरम् ॥ १४ ॥

पदच्छेदः ।

यत्, त्वम्, पश्यसि, तत्र, एकः, त्वम्, एव, प्रतिभाससे, किम्, पृथक्, भासते, स्वर्णात्, कटकांगदनूपुरम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यत्	जिसको	किम्	क्या
त्वम्	तुम	कटकांगदनूपुरम्	कँगना बाजूबन्द और घुँघुरू
पश्यसि	देखता है	स्वर्णात्	सुवर्ण से
तत्र	उसमें	पृथक्	पृथक
एकः	एक	भासते	भासता है ॥
त्वम् एव	तुम ही		
प्रतिभाससे	भासते हो		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! जो कार्य तुम देखते हो, वह कारण-रूप ही है । छांदोग्य के छठे प्रपाठक में अरुण ऋषि ने अपने श्वेतकेतु पुत्र के प्रति कहा है । जब श्वेतकेतु

बारह वर्ष का हुआ, तब उद्दालक ने कहा कि हे श्वेतकेतो ! तू गुरुकुल में निवास करके सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर, क्योंकि हमारे कुल में ऐसा कोई भी नहीं हुआ है जिसने ब्रह्मचर्य को धारण करके वेदों का अध्ययन न किया हो।

पिता की आज्ञा को पाकर श्वेतकेतु गुरु के पास गया और ब्रह्मचर्य को धारण करके बारह वर्ष तक वेदों का अध्ययन करता रहा। जब कि सब वेदों को पढ़ चुका, तब गुरु की आज्ञा लेकर घर को चला। रास्ते में उसके चित्त में अभिमान उत्पन्न हुआ कि मेरा पिता मेरे बराबर विद्या में नहीं है, उनको प्रणाम करने की क्या जरूरत है। वह जब घर में आया, तब उसने पिता को प्रणाम नहीं किया। पिता जान गये, इसको विद्या का मद हुआ है। इस अहंकार को दूर करना चाहिए। पिता ने कहा कि हे श्वेतकेतो ! तुमने उस उपदेश को भी गुरु से श्रवण किया, जिस उपदेश से अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है। तब श्वेतकेतु ने कहा कि हे पिता ! उस उपदेश को तो मैंने नहीं श्रवण किया। यदि गुरु हमारे जानते होते तो, वह हमसे अवश्य कहते। क्योंकि जितनी विद्याएँ वे जानते थे, उन सबको मेरे प्रति कहा। अब आप ही कृपा करके उस उपदेश को मेरे प्रति कहिए। पुत्र को नम्र देखकर अरुणि ऋषि उपदेश करते हैं—

यथा—"सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥"

हे सौम्य ! जैसे एक मृत्तिका के पिण्ड से सम्पूर्ण मृत्तिका के

कार्य मृत्तिका-रूप ही जाने जाते हैं । क्योंकि कारण से कार्य का भेद नहीं होता है। जितना नाम का विषय-विकार है, केवल वाणी का कथन-मात्र ही है, केवल मृत्तिका ही सत्य है ॥

"यथा सौम्यैकेन लोहमणिना सर्व्वं लोहमयं विज्ञातं स्यादा-चारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥"

हे सौम्य ! जैसे स्वर्ण के ज्ञान से जितने कटक कुण्डलादि उसके कार्य हैं, सब स्वर्ण-रूप ही हैं। क्योंकि कार्य कारण से भिन्न नहीं होता है। और जितने स्वर्ण के कार्य नाम के विषय हैं, वे सब वाणी से कथन-मात्र मिथ्या हैं। उन सब में अनुगत स्वर्ण ही सत्य है ॥

इस तरह हे पुत्र ! अनेक श्रुति-वाक्यों से जब तू बोधित होगा, तब तुझको मालूम होगा कि तू ही कार्य-कारणरूप से स्थित है, तू ही सच्चिदानन्द ज्ञान-स्वरूप आत्मा है ॥ १४ ॥

मूलम् ।

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज ।
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसंकल्पः सुखी भव ॥ १५ ॥

अयम्, सः, अहम्, अयम्, न, अहम्, विभागम्, इति, सन्त्यज, सर्वम्, आत्मा, इति, निश्चित्य, निःसङ्कल्पः, सुखी, भव ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अयम्=यह		अयम्=यह	
सः=वह है		अहम्=मैं	
अयम्=यह		न=नहीं हूँ	
अहम्=मैं		इति=ऐसे	
अस्मि=हूँ			

विभागम् = विभाग को
सन्त्यज = छोड़ दे
सर्वं = सब
आत्मा = आत्मा है ।
इति = ऐसा
निश्चित्य = निश्चय करके
त्वम् = तुम
निःसङ्कल्पः = सङ्कल्प-रहित होता हुआ
सुखी भव = सुखी हो ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! "यह वह है, मैं हूँ, मैं यह नहीं हूँ" इस भेद को त्यागकर "सर्वरूप आत्मा ही है" ऐसा निश्चय कर । यदि ऐसा करेगा, तो सुखी होगा, क्योंकि द्वैतदृष्टि से ही पुरुष को भय होता है । एक अद्वैत अपने आपसे किसी को भी भय नहीं होता है द्वैतदृष्टि ही दुःख का कारण है । उसका त्याग करके तुम सुखी हो । जैसे एकान्त देश में स्थित पुरुष को तब तक आनन्द रहता है, जब तक उसके अन्तः-करण में भूत की भावनावृत्ति नहीं उत्पन्न होती है । ज्यों ही भूतद्वैतवृत्ति उत्पन्न हुई, त्यों ही वह भय को प्राप्त होता है, वैसे ही जब तक तेरे दिल में यह कल्पना है कि मैं और हूँ, जगत् और है, तभी तक दुःख और भय तुझको है, नहीं तो तू अद्वैत आनन्द-स्वरूप है ॥ १५ ॥

मूलम् ।

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः ।
त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन ॥ १६ ॥

पदच्छेदः ।

तव, एव, अज्ञानतः, विश्वम्, त्वम्, एकः, परमार्थतः, त्वत्तः, अन्यः, न, अस्ति, संसारी, न, असंसारी, च, कश्चन ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
तव एव	तेरे ही	अन्यः	दूसरा
अज्ञानतः	अज्ञान से	कश्चन	कोई
विश्वम्	विश्व है	न संसारी	न संसारी जीव
त्वम्	तुम	च	और
एकः	एक है	न असंसारी	न असंसारी ईश्वर
त्वत्तः	तुझसे	अस्ति	है ॥
परमार्थतः	परमार्थ से		

भावार्थ ।

हे शिष्य ! तुम्हारे ही अज्ञान से यह जगत् प्रतीत होता है और तुम्हारे ही आत्मज्ञान से यह नाश होता है ।

प्रश्न—अज्ञान का स्वरूप क्या है ? और ज्ञान का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—"अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वमज्ञानम् ।"

जो अनादि हो, और भावरूप हो, अर्थात् अभावरूप न हो, और ज्ञान से निवृत्त हो जाए, उसी का नाम अज्ञान है ॥

"अज्ञाननाशकत्वे सति स्वात्मबोधकत्वं ज्ञानम् ।"

जो अज्ञान का नाशक हो, और अपने आत्मा के स्वरूप का बोधक हो, उसी का नाम ज्ञान है ?

ज्ञान के उदय होने पर परमार्थ से हे शिष्य ! तुम एक ही हो, संसारी और असंसारी भेद तेरे नहीं हैं ॥ १६ ॥

मूलम् ।

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी ।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति ॥ १७ ॥

पदच्छेदः ।

भ्रान्तिमात्रम्, इदम्, विश्वम्, न, किञ्चित्, इति, निश्चयी, निर्वासनः, स्फूर्तिमात्रः, न, किञ्चित्, इव, शाम्यति ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
इदम्	यह
विश्वम्	संसार
भ्रान्ति-मात्रम्	भ्रान्ति-मात्र है
च	और
न किञ्चित्	कुछ नहीं है
इति	ऐसा
निश्चयी	निश्चय करनेवाला पुरुष
निर्वासनः	वासना-रहित
स्फूर्तिमात्रः	स्फूर्ति मात्र है
न किञ्चित् इव	कुछ न हुए की नाई अर्थात् वासना-रहित होकर
शाम्यति	शान्ति को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

हे शिष्य ! यह जगत् सब भ्रान्ति से स्थित हो रहा है । इस जगत् की अपनी सत्ता किञ्चिन्मात्र भी नहीं है । ऐसा निश्चय करके तुम वासना से रहित होकर आनन्दपूर्वक संसार में विचरो ॥ १७ ॥

मूलम् ।

एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति ।
न ते बन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर ।। १८ ।।

पदच्छेदः ।

एकः, एव, भवाम्भोधौ, आसीत्, अस्ति, भविष्यति, न, ते, बन्धः, अस्ति, मोक्षः, वा, कृतकृत्यः, सुखम्, चर ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
भवाम्भोधौ	संसाररूपी समुद्र में	भविष्यति	होवेगा
एकः	एक	ते	तेरा
आसीत्	हुआ था	बन्धः	बंध
च	और	वा	और
अस्ति	है	मोक्षः	मोक्ष
+च	और	न	नहीं है
कृतकृत्य	कृतार्थ होता हुआ	त्वम्	तुम
		सुखम्	सुखपूर्वक
		चर	विचर

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! इस संसार-रूपी समुद्र में तू सदा अकेला आप ही था, और रहेगा ।

प्रश्न—जब मैं ही भवसागर में था, और रहूँगा, तब तो मुझको मोक्ष कदापि नहीं होगा ? किन्तु सदैव बन्ध में ही रहूँगा ?

उत्तर—हे पुत्र ! अभी तक तुम अपने आपको न जानकर बन्ध और मोक्ष के हेरफेर में पड़ थे, अब तुम अपने को जान गये हो और भवसागर में अनुस्यूत-रूप करके अर्थात् अधिष्ठान

असंग साक्षी हो करके तुम्हीं स्थित थे, और रहोगे। क्योंकि तुम्हारे में ही यह संसार रज्जुसर्पवत् कल्पित है। अब न तेरे में बन्ध है, और न मोक्ष है। तू कृतकृत्य है ॥ १८ ॥

मूलम् ।

मा संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय ।
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे ॥ १९ ॥

पदच्छेदः ।

मा, संकल्पविकल्पाभ्याम्, चित्तम्, क्षोभय, चिन्मय, उपशाम्य, सुखम्, तिष्ठ, स्वात्मनि, आनन्दविग्रहे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
चिन्मय	हे चैतन्यस्वरूप !	उपशाम्य	मन को शान्त करके
संकल्पविकल्पाभ्याम्	संकल्प-विकल्पों से	आनन्दविग्रहे	आनन्द-पूरित
चित्तम्	चित्त को	स्वात्मनि	अपने स्वरूप में
त्वम्	तुम	सुखम्	सुखपूर्वक
मा क्षोभय	मत क्षोभित करो	तिष्ठ	स्थित हो ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे चैतन्यस्वरूप ! संकल्प और विकल्पों से अपने चित्त को क्षुब्ध न करो, किन्तु संकल्प और विकल्प से तुम रहित होकर अपने आनन्दस्वरूप में स्थित हो ॥ १९ ॥

मूलम् ।

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किञ्चिद्धृदि धारय ।
आत्मा त्वम्मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि ॥ २० ॥

पदच्छेदः ।

त्यज, एव, ध्यानम्, सर्वत्र, मा, किञ्चित्, हृदि, धारय, आत्मा, त्वम्, मुक्तः, एव, असि, किम्, विमृश्य, करिष्यसि ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सर्वत्र एव	सब ही जगह	आत्मा मुक्तः एव	आत्मा मुक्त-रूप ही
ध्यानम्	मनन को	असि	हो
त्यज	त्याग	त्वम्	तुम
हृदि	हृदय में	विमृश्य	विचार करके
किञ्चित्	कुछ	किम्	क्या
मा धारय	मत धारण करो	करिष्यसि	करोगे ॥
त्वम्	तुम		

भावार्थ ।

प्रश्न—हे गुरो ! अपने आनन्दस्वरूप में स्थिर होके विना ध्यान के बनता नहीं है, इस वास्ते ध्यान करना चाहिए ?

उत्तर—ध्यान का भी त्याग कर, क्योंकि ध्यान भी अज्ञानी के लिए कहा है । जिसको आत्मा का बोध नहीं हुआ है, भेदवाला वही ध्यान करे । ध्यान करना भी मन का ही धर्म है । तू तो आत्मा है, अनात्मा नहीं, सदा मुक्त-रूप है । ध्यान के विचार से तेरे को क्या फल होगा, तुम इनसे रहित हो ॥ २० ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां पञ्चदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥१५॥

सोलहवाँ प्रकरण ।

—:o:—

मूलम् ।

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

आचक्ष्व, शृणु, वा, तात, नानाशास्त्राणि, अनेकशः, तथा, अपि, न, तव, स्वास्थ्यम्, सर्व, विस्मरणात्, ऋते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
तात	हे प्रिय !	तथा अपि	परन्तु
अनेकशः	बहुत प्रकार से	ऋते	बिना
नानाशास्त्राणि	अनेक शास्त्रों को	सर्वविस्मरणात्	सबका विस्मरण किये
आचक्ष्व	कहो	तव	तुझको
वा	या	स्वास्थ्यम्	शान्ति
शृणु	सुनो	न	न होगी ॥

भावार्थ ।

तत्त्व-ज्ञान से सम्पूर्ण प्रपञ्च और तृष्णानाश ही का नाम मुक्ति है। अब इसी वार्त्ता को आगे वर्णन करते हैं—

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे तात ! चाहे तुम अनेक शास्त्रों को

अनेक बार शिष्यों के प्रति पठन कराओ, अथवा गुरु से पठन करो, पर बिना सबके विस्मरण करने से तुम्हारा कल्याण कदापि नहीं होगा, पञ्चदशी में भी कहा है—

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी विचार्य च पुनः पुनः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः॥

बुद्धिमान् पुरुष प्रथम ग्रन्थों का अभ्यास करे। फिर पुनः पुनः उनका विचार करे। पश्चात् जैसे चावल का अर्थी पुरुष चावलों को निकाल लेता है, और पयाल को फेंक देता है, वैसे ही वह भी जीवन्मुक्ति के सुख के लिये अभ्यास के पश्चात् सबका त्याग कर देवे।

प्रश्न—सुषुप्ति में सर्व पुरुषों को स्वतः ही विस्मरण हो जाता है ? यदि सर्व वस्तुओं के विस्मरण करने से ही मुक्ति होती है, तो सब जीवों को मोक्ष हो जाना चाहिए, पर ऐसा तो नहीं देखते हैं ? इसी से सिद्ध होता है कि सर्व का विस्मरण व्यर्थ हैं ?

उत्तर—सुषुप्ति में यद्यपि विस्मरण हो जाता है, तथापि सबका विस्मरण नहीं होता है, क्योंकि सर्व के अन्तर्गत अज्ञान है, वह अज्ञान सुषुप्ति में बना रहता है, और जीवन्मुक्त को तो अज्ञान के सहित सम्पूर्ण अध्यस्त वस्तुओं का विस्मरण हो जाता है, इस वास्ते जीवन्मुक्ति की इच्छावाले को सर्व वस्तुओं का विस्मरण करना ही उचित है॥ १॥

मूलम्।

भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति॥ २॥

पदच्छेदः ।

भोगम्, कर्म, समाधिम्, वा, कुरु, विज्ञ, तथा, अपि, ते, चित्तम्, निरस्तसर्वाशम्,अत्यर्थम्, रोचयिष्यति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
विज्ञ	हे ज्ञानस्वरूप	कुरु	करो
ते	तेरा	तथा अपि	परन्तु
चित्तम्	चित्त	निरस्तसर्वाशम्	सब आशाओं से रहित होता हुआ भी
भोगम्	भोग	त्वाम्	तुझको
कर्म्म	कर्म	अत्यर्थम्	अत्यन्त
वा	और	रोचयिष्यति	रुचिकर लगेगा ॥
समाधिम्	समाधि को		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे पुत्र ! चाहे तू भोगों को भोग, चाहे तू कर्मों को कर, चाहे तू समाधि को लगा। आत्मा ज्ञान के प्रभाव से सर्व आशाओं से रहित होकर, तेरा चित्त शान्त रहेगा अर्थात् आशाओं से रहित होकर जो जो कर्म तू करेगा, कोई भी तेरे को बन्धन का हेतु न होगा। क्योंकि आशा ही बन्धन का हेतु है, इसलिये सर्व से निराश होकर, सर्व में आसक्ति से रहित होकर जब विचरेगा, तब तू सुखी होवेगा ॥ २ ॥

मूलम् ।

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन ।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम् ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

आयासात्, सकलः, दुःखी, न, एनम्, जानाति, कश्चन, अनेन, एव, उपदेशेन, धन्यः, प्राप्नोति, निर्वृतिम् ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
आयासात्	परिश्रम से	अनेन एव	इसी
सकलः	सब मनुष्य	उपदेशेन	उपदेश से
दुःखी	दुखी हैं	धन्यः	सुकृती पुरुष
एनम्	इसको	निर्वृतिम्	परम सुख को
कश्चन	कोई	प्राप्नोति	प्राप्त होता है ॥
न जानाति	नहीं जानता है		

भावार्थ ।

हे शिष्य ! सम्पूर्ण लोक शरीर के निर्वाह करने में ही दुःखी होते हैं। अर्थात् शरीर निर्वाहार्थ परिश्रम करने में ही दुःख उठाते हैं, परन्तु इस बात को नहीं जानते हैं कि परिश्रम ही दुःख का हेतु है, इसलिये महापुरुष शरीर के निर्वाह के लिए अति परिश्रम नहीं करते हैं। क्योंकि शरीर की रक्षा प्रारब्धकर्म आप ही कर लेता है, यत्न की कोई जरूरत नहीं होती है। ऐसा जानकर वे सदैव सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

मूलम् ।

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि ।
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित् ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

व्यापारे, खिद्यते, यः, तु, निमेषोन्मेषयोः, अपि, तस्य, आलस्यधुरीणस्य, सुखम्, न, अन्यस्य, कस्यचित् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यः	जो	आलस्य-धुरीणस्य	आलसी धुरीण को
निमेषोन्मेषयोः	नेत्र के ढकने और खोलने के	अपि	भी
व्यापारे	व्यापार से	सुखम्	सुख
खिद्यते	खेद को प्राप्त होता है	अन्यस्य	दूसरे
तस्य	उस	कस्यचित्	किसी को
		न	नहीं है ॥

भावार्थ ।

व्यापार में अनासक्ति ही सुख का हेतु है। जो ज्ञानवान् जीवन्मुक्त पुरुष हैं, उनको नेत्र खोलने और बंद करने में भी खेद होता है। जो ऐसा आलसी पुरुष है और सम्पूर्ण व्यापारों से रहित है, वही सुख को प्राप्त होता है। व्यापारवान् को कभी भी सुख नहीं होता है। संसार में पुरुष को जितनी ही व्यवहार में अधिक प्रवृत्ति है, उतना ही उसको दुःख अधिक है। और जितना ही व्यवहार-प्रवृत्ति कम है, उतना ही उसको सुख अधिक है। क्योंकि वृत्ति की वृद्धि से दुःख की प्राप्ति और वृत्ति की निवृत्ति से सुख की प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

मूलम् ।

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत् ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

इदम्, कृतम् इदम्, न, इति, द्वन्द्वैः, मुक्तम् यदा, मनः, धर्मार्थकाममोक्षेषु, निरपेक्षम्, तदा, भवेत् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
इदम्	यह	मुक्तम्	मुक्त हो
कृतम्	किया गया है	तदा	तब
इदम् न कृतम्	यह नहीं किया गया है	सः	वह
इति	ऐसे	धर्मार्थकाममोक्षेषु	धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में
द्वन्द्वैः	द्वन्द्व से	निरपेक्षम्	इच्छा-रहित
यदा मनः	जब मन	भवेत्	होता है ॥

भावार्थ ।

सम्पूर्ण तृष्णा के नाश होने पर शीतोष्णादि-जन्य सुख-दुःख भी पुरुष को नहीं सता सकते हैं, इसी वार्त्ता को अब कहते हैं—

इस काम को मैंने कर लिया है, इस काम को मैंने नहीं किया है, इस तरह के द्वन्द्वों से जब पुरुष का मन शून्य हो जाता है, तब वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की इच्छा नहीं करता है। ऐसा जो सम्पूर्ण द्वन्द्वों से और सब इच्छाओं से रहित पुरुष है, वही जीवन्मुक्ति के सुख को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

मूलम् ।

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः ।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान् ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

विरक्तः विषयद्वेष्टा, रागी, विषयलोलुपः, ग्रहमोक्ष-विहीनः, तु, न, विरक्तः, न, रागवान् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
विषयद्वेष्टा=	विषय का द्वेषी
विरक्तः=	विरक्त
विषयलोलुपः=	विषय का लोभी
रागी=	रागी
ग्रह-मोक्ष-विहीनः	ग्रहण और त्याग-रहित पुरुष
न विरक्तः=	न विरक्त है
न रागवान्=	और न रागवान् है ॥

भावार्थ ।

अब इस वार्ता को कहते हैं कि सकामी पुरुष से निष्कामी पुरुष विलक्षण है—

मुमुक्षु होकर जो स्त्री-पुत्रादि विषयों में द्वेष करता है, अर्थात् द्वेषदृष्टि से उनको अङ्गीकार नहीं करता है किन्तु त्याग देता है, उसका नाम विरक्त है। और जो विषयों की कामना करके विषयों में लोलुप चित्तवाला है, उसका नाम रागी है। और जो पुरुष विषयों के ग्रहण और त्याग की इच्छा से रहित है, वह विरक्त सरक्त से विलक्षण अर्थात् ग्रहण-त्याग से रहित जीवन्मुक्त है ॥ ६ ॥

मूलम् ।

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपाङ्कुरः ।
स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः ।

हेयोपादेयता, तावत्, संसारविटपाङ्कुरः, स्पृहा, जीवति, यावत्, वै, निर्विचारदशास्पदम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यावत्	जब तक	जीवति	जीता है
स्पृहा	तृष्णा	+च	और
यावत्	जब तक	हेयोपादेयता	त्याज्य और ग्राह्य भाव
निर्विचारदशास्पदम्	अविवेक दशा की स्थिति है	संसारविटपाङ्कुर	संसार-रूपी वृक्ष का अङ्कुर है ॥
तावत्	तब तक		

भावार्थ ।

विचारशून्यदशा आस्पदीभूत का नाम तृष्णा है अर्थात् जिस काल में कोई विचार न हो, केवल भोगों की इच्छा ही उत्पन्न हो, उसका नाम तृष्णा है । अतः जो तृष्णालु पुरुष है, वह जब तक जीता है, ग्रहण-त्याग करता ही रहता है । संसार-रूपी वृक्ष का अङ्कुर उत्पन्न करनेवाली तृष्णा ही है, वह तृष्णा जीवन्मुक्तों में नहीं रहती है, यदि प्रारब्धकर्म के वश से जीवन्मुक्त में ग्रहण-त्याग का व्यवहार होता भी रहे, तो भी उसकी कोई हानि नहीं है ॥ ७ ॥

मूलम् ।

प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि ।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

प्रवृत्तौ, जायते, रागः, निवृत्तौ, द्वेषः, एव, हि, निर्द्वन्द्वः, बालवत्, धीमान्, एवम्, एव, व्यवस्थितः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
प्रवृत्तौ	प्रवृत्ति में	निवृत्तौ	निवृत्ति में
रागः	राग	द्वेष	द्वेष
च	और	जायते	होता है
एव हि	इसलिये	एवम् एव	जैसे होवे-वैसा ही
धीमान्	बुद्धिमान् पुरुष	व्यवस्थितः	स्थित रहे ॥
निर्द्वन्द्व	द्वन्द्व रहित		

भावार्थ ।

विषयों में जब-राग पूर्वक प्रवृत्ति होती है, तब पूर्व से उत्तरोत्तर विषयों में राग ही उत्पन्न होता है । और जब विषयों में द्वेष-पूर्वक निवृत्ति होती है, तब पूर्व से उत्तरोत्तर विषयों में द्वेष-दृष्टि ही उत्पन्न होती है । इसी में एक दृष्टांत कहते हैं—

"एक राजा दूसरे देश को गया । उसको वहाँ पर कई एक वर्ष बीत गये । पीछे, उसकी रानी अति कामातुर होकर अपने मकान पर से इधर-उधर ताकती थी । एक सराफ का लड़का, युवा अवस्था को प्राप्त, बड़ा सुन्दर अपने कोठे पर खड़ा था । उको देखकर रानी का मन उसकी तरफ चला गया । रानी ने अपनी लौंड़ी को उसके बुलाने के लिये भेजा । लौंड़ी उसको बुला लाई । रानी उससे बातचीत करने लगी । थोड़ी देर में लौंडी ने आकर कहा कि राजा साहब आ गये । तब उस लड़के ने कहा कि मुझको कहीं छिपाओ । रानी ने उसको पाखाने के नल में खड़ा कर दिया । इतने में राजा भीतर आ गये और नौकर से कहा, जल्दी पानी लाओ, हम पाखाने जावेंगे । नौकर

पानी लाया, राजा पाखाने गये, राजासाहब को दस्त पतले आते थे, इस कारण नल की मोहरी पर बैठकर जो पाखाना उन्होंने किया तो नीचे उस लड़के के ऊपर जाकर गिरा। उसका शिर, मुँह और सब कपड़े मैले से भर गये। राजा पाखाना करके चले गये, तब लौंडी ने उसको किसी गंदी नाली के रास्ते से निकाल दिया। उस लड़के ने नदी पर जाकर स्नान किया और सब कपड़े साफ करके अपने घर को गया।

दूसरे दिन फिर रानी ने लौंडी को उसके बुलाने के लिए भेजा। तब लड़के ने कहा कि एक दिन मैं रानी के पास गया और केवल दस-पाँच बातें मैंने उससे की तब उसका फल यह हुआ कि अपने सिर पर दूसरे का मैला पड़ा। जो रोज-रोज उससे सम्बन्ध करता है, न मालूम उसकी क्या गति होगी। मुझको तो वह पाखाना न भूला है, न भूलेगा। मैं अब कदापि न जाऊँगा। इस प्रकार की जब विषय-भोग में दोष-बुद्धि होती है, तब फिर कदापि उसकी विषय-भोग में राग-पूर्वक प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसे ही विद्वान् भी बालक की तरह शुभ-अशुभ के चिन्तन से रहित होकर केवल प्रारब्ध-वश से कदाचित् प्रवृत्त होता है, कदाचित् निवृत्त भी हो जाता है, परन्तु रागद्वेष करके न तो वह प्रवृत्त होता है, और न वह निवृत्त होता है ॥ ८ ॥

मूलम् ।

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया ।
वीतरागो हि निर्दुःखस्तस्मिन्नपि न खिद्यति ॥ ९ ॥

पदच्छेदः ।

हातुम्, इच्छति, संसारम्, रागी, दुःखजिहासया, वीत-रागः, हि, निर्दुखः, तस्मिन्, अपि, न, खिद्यति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
रागी=	रागवान् पुरुष	हि=	निश्चय करके
दुःखजिहासया=	दुःख की निवृत्ति की इच्छा से	निर्दुःखः=	दुःख से मुक्त होता हुआ
संसारम्=	संसार को	तस्मिन्=	उसमें
हातुम्=	त्यागना	अपि=	भी
इच्छति=	चाहता है	न खिद्यति=	नहीं खेद को प्राप्त होता है ॥
वीतरागः=	राग-रहित पुरुष		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे शिष्य ? जो पुरुष विषयों में रागवाला है, वही विषय के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ जो दुःख है, उसके त्याग की इच्छा करता हुआ संसार के त्यागने की इच्छा करता है और जो वीतराग पुरुष है, वह, संसार के बने रहने पर भी खेद को नहीं प्राप्त होता है, वह पञ्चदशी में भी कहा है:—

रागो लिंगमबोधस्य चित्तव्यायामभूमिषु ।
कुतो वै शाद्वलस्तस्य यस्याग्निः कोटरे तरोः ॥

जिस वृक्ष के कोटर में अर्थात् जड़ के बिल में अग्नि लगी है, उस

वृक्ष को हरियाली अर्थात् उसके हरे पत्ते कदापि उत्पन्न नहीं होते हैं।

दृष्टान्त में जिस पुरुष के चित्त में अज्ञान का चिह्न बना है, उसको शान्ति कदापि नहीं होती है ॥ ९ ॥

मूलम्।

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।
न च योगी न वा ज्ञानी केवलं दुःखभागसौ ॥ १० ॥

पदच्छेदः।

यस्य, अभिमानः, मोक्षे, अपि, देहे, अपि, ममता, तथा, न, च, योगी, न, वा, ज्ञानी, केवलम्, दुःखभाक्, असौ।

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
यस्य	जिसको	अभिमानः	अभिमान है
मोक्षे	मोक्ष में	न	न
च	और	ज्ञानी	ज्ञानी
देहे	देह में	च	और
अपि	भी	न	न
तथा	वैस ही	योगी वा	अथवा योगी
ममता	ममता है	केवलम्	केवल
असौ	वह	दुःखभाक्	दुःख का भागी है ॥

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि मैं ज्ञानी हूँ, मैं त्रिकालदर्शी हूँ, मैं मुक्त हूँ इस प्रकार का जिसको अभिमान है, वह ज्ञानी नहीं है। जो कहता है मैं योगाभ्यासी हूँ, मैं नित्य ही धोती, नेती, बस्ती,

आदि क्रिया करता हूँ, वह भी योगी नहीं है, किन्तु वह केवल दुःख का भोगनेवाला है ॥ १० ॥

मूलम् ।

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥ ११ ॥

पदच्छेदः ।

हरः, यदि, उपदेष्टा, ते, हरिः, कमलजः, अपि, वा, तथा, अपि, न, तव, स्वास्थ्यम्, सर्वविस्मरणात्, ऋते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यदि	अगर	तथापि	तो भी
ते	तेरा	सर्वविस्मरणात् ऋते	बिना सबके विस्मरण के अर्थात् त्याग के
उपदेष्टा	उपदेशक	तव	तुझको
हरः	शिव	स्वास्थ्यम्	शान्ति
हरिः	विष्णु	न	नहीं होगी ॥
वा	अथवा		
कमलजः	ब्रह्मा		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! चाहे तुमको महादेव उपदेश करें या विष्णु उपदेश करें या ब्रह्मा उपदेश करें, तुमको सुख कदापि न होगा । जब विषयों का त्याग करोगे, तभी शान्ति और आनन्द को प्राप्त होगे । आत्मतत्त्व के उपदेश के पहले विषयों का त्याग बहुत जरूरी है ॥ ११ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां षोडशकं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १६ ॥

सत्रहवाँ प्रकरण ।

— :o: —

मूलम् ।

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा ।
तृप्तः स्वछेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

तेन, ज्ञानफलम्, प्राप्तम्, योगाभ्यासफलम्, तथा, तृप्तः, स्वच्छेन्द्रियः, नित्यम्, एकाकी, रमते, तु, यः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यः	जो पुरुष	तेन	उसी से
नित्यम्	नित्य	ज्ञानफलम्	ज्ञान का फल
तृप्तः	तृप्त है	तथा	और
स्वच्छेन्द्रियः	शुद्ध इन्द्रियवाला है	योगाभ्यासफलम्	योग के अभ्यास का फल
च	और	प्राप्तम्	पाया गया है ॥
एकाकी	अकेला		
रमते	रमता है		

भावार्थ ।

अब विंशति श्लोकों के द्वारा सत्रहवें प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं । पुरुषों की प्रवृत्ति ब्रह्म-विद्या में कराने के लिये और आत्मज्ञान का फल दिखाने के वास्ते गुरु प्रथम ज्ञान की दशा को दिखाते हैं ।

उसी पुरुष को आत्मज्ञान का फल प्राप्त हुआ है और उसी पुरुष को योगाभ्यास का फल भी प्राप्त हुआ है, जिसने विषय-भोगों से रहित होकर अपने आपमें ही तृप्ति पाई है। वही स्वच्छ इन्द्रियोंवाला है अर्थात् उसकी इन्द्रियों में विषयभोग की कामना रञ्चकमात्र नहीं है, जो नित्य अकेला विचरता है और अपने आप स्थित है। दत्तात्रेयजी ने कहा है।

> वासो बहूनां कलहो भवेद्वार्त्ता द्वयोरपि।
> एकाकी विचरेद्विद्वान् कुमार्या इव कङ्कणः॥

दत्तात्रेयजी एक ब्राह्मण के घर भिक्षा माँगने गये। घर में एक कुमारी कन्या थी और कोई न था। उस कन्या ने कहा, महाराज! आप ठहरें, मैं धान कूट और चावल निकालकर आपको देती हूँ। जब वह कन्या धान कूटने लगी तब उसके हाथ में जो काँच की चूड़ियाँ थीं, वे छन्-छन् शब्द करने लगीं। उनके शब्द होने से कन्या को बड़ी लज्जा आई। उसने एक-एक करके उन चूड़ियों को उतार दिया। जब एक ही चूड़ी बाकी रह गई, तब शब्द होना बन्द हो गया। तब दत्तात्रेयजी ने विचार करके कहा कि जहाँ बहुत से पुरुषों का एकत्र रहना होता है, वहाँ लड़ाई-झगड़ा जरूर होता है। और जहाँ दो पुरुष इकट्ठे रहते हैं वहाँ पर गपशप होती है, श्रवण मननादिक नहीं होते हैं। इस वास्ते विद्वान् को चाहिये कि कुमारी कन्या के कङ्कण की तरह अकेला होकर संसार में विचरे। जिस विद्वान को जीवन्मुक्ति के सुख को लेने की इच्छा होती है, वह अकेला ही रहता है। इसी

वास्ते संन्यासी को बहुत पुरुषों के मध्य में रहना और बहुतों का संग रखना भी मना किया है ।

दक्षस्मृतिः—

त्रयी ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ।
नगरं हि न कर्त्तव्यं ग्रामो वा मैथुनं तथा ॥
एकत्त्रयं तु कुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः ।
राजवार्त्तादि तेषां तु भिक्षावार्त्ता परस्परम् ॥

जहाँ पर तीन भिक्षु मिल करके रहें उसका नाम ग्राम है । जहाँ पर तीन से अधिक रहें, उसका नाम नगर है । इस वास्ते भिक्षु विद्वान् नगर और ग्राम को न बनावें, और न दूसरे के साथ रहें, किन्तु अकेले ही विचरा करें । जो भिक्षु ग्राम, नगर या मैथुन को करता है, अर्थात् दो, तीन और अधिकों के साथ रहता है, वह अपने धर्म से प्रच्युत हो जाता है ।

सत्कारमानपूजार्थं दण्डकाषायधारणः ।
स संन्यासी न वक्तव्यः संन्यासी ज्ञानतत्परः ॥

सत्कार, मान और पूजा के अर्थ जो भिक्षु दण्ड और काषाय-वस्त्रों को धारण करता है, वह संन्यासी नहीं है । जो आत्म-ज्ञानपरायण होकर अकेला वासना रहित होकर ही रहता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है, दूसरा नहीं ॥ १ ॥

मूलम् ।

न कदाचिज्जगत्यस्मिंस्तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति ।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

न, कदाचित्, जगति, अस्मिन्, तत्त्वज्ञः, हन्त, खिद्यति, यतः, एकेन, तेन, इदम्, पूर्णम्, ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
तत्त्वज्ञः	तत्त्वज्ञानी	यतः	क्योंकि
अस्मिन्	इस	तेन एकेन	उसी एक से
जगति	जगत विषे	इदम्	यह
न कदाचित्	कभी नहीं	ब्रह्माण्डमण्डलम्	ब्रह्माण्ड-मण्डल
खिद्यते	खेद को प्राप्त होता	पूर्णम्	पूर्ण है ॥
हन्त	यह बात ठीक है		

भावार्थ ।

हे शिष्य ! इस संसार मण्डल में तत्त्ववित् ज्ञानी कभी भी खेद को प्राप्त नहीं होता है। क्योंकि वह जानता है कि मुझ एक से ही यह सारा जगत् व्याप्त हो रहा है। खेद दूसरे से होता है, सो दूसरा उसकी दृष्टि में है नहीं ॥ २ ॥

मूलम् ।

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी ।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभन्निम्बपल्लवाः ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

न, जातु, विषयाः, के, अपि, स्वारामम्, हर्षयन्ति, अमी, सल्लकीपल्लवप्रीतम्, इव, इभम्, निम्बपल्लवाः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अमी	ये	सल्लकी-पल्लवप्रीतम्	सल्लकी के पत्तों से प्रसन्न हुए
के अपि	कोई भी	इभम्	हाथी को
विषयाः	विषय	निम्बपल्लवा	नीम के पत्ते
न जातु	कभी नहीं	न हर्षयन्ति	नहीं हर्षको प्राप्त कराते ॥
स्वारामम्	स्वात्मारामको		
हर्षयन्ति	हर्षित करते हैं		
इव	जैसे		

भावार्थ ।

हे शिष्य ! जो पुरुष अपने आत्मा में ही रमण करे, उसका नाम आत्माराम है। वह आत्माराम कदापि विषयों की प्राप्ति होने से और उनको भोगने से हर्ष को नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि वह विषयों को तुच्छ जानता है। अर्थात् विषय-जन्य सुख को वह मिथ्या जानता है और विषय-भोग भी उस आत्माराम को हर्ष-युक्त नहीं कर सकते हैं। क्योंकि अपनी सत्ता से रहित हैं। जैसे सल्लकी जो मधुर रसवाली बेलि है, उस वेलि के पत्ते जिस हस्ती ने खाये हैं उसको कटु-रसवाले नीम के पत्ते हर्ष को प्राप्त नहीं करा सकते हैं वैसे जिसने आत्मानन्द का अनुभव किया है, उसको विषयानन्द नहीं आनन्दित कर सकता है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासितः ।
अभुक्तेषु निराकाङ्क्षी तादृशो भवदुर्लभः ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

यः, तु, भोगेषु, भुक्तेषु, न, भवति, अधिवासितः, अभुक्तेषु, निराकाङ्क्षी, तादृशः, भवदुर्लभः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यः	जो	च	और
भुक्तेषु	भोगे हुए	अभुक्तेषु	अभुक्त पदार्थों में
भोगेषु	भोगों में	निराकाङ्क्षी	आकांक्षा-रहित है
अधिवासितः	आसक्त	तादृशः	ऐसा मनुष्य
न भवति	नहीं होता है	भवदुर्लभ	संसारमें दुर्लभ है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! जिस पुरुष को भोगे हुए भोगों में आसक्ति नहीं है और जो नहीं भोगे हुए भोग हैं, उनमें उसकी आकांक्षा भी नहीं है, परन्तु जो अपने आत्मा में ही तृप्त है, वैसा पुरुष संसार-सागर में करोड़ों में एक ही है, अथवा एक भी दुर्लभ है ॥ ४ ॥

मूलम् ।

बुभुक्षेरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते ।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

बुभुक्षेः, इह, संसारे, मुमुक्षुः, अपि, दृश्यते, भोगमोक्ष-निराकांक्षी, विरलः, हि, महाशयः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
बुभुक्षुः	भोग की इच्छावाला
अपि	और
मुमुक्षुः	मोक्ष की इच्छावाला
इह	इस
संसारे	संसार में
दृश्यते	देखे जाते हैं
हि	परन्तु
भोगमोक्ष-निराकांक्षी	भोग और मोक्ष की इच्छा से रहित
विरलः	कोई विरला ही
महाशयः	महापुरुष है॥

भावार्थ।

इस संसार में मुमुक्षु अनेक प्रकार के दिखाई पड़ते हैं, परन्तु जो भोग और मोक्ष दोनों की आकाङ्क्षा से रहित हो और महान् परिपूर्ण ब्रह्म में शुद्ध अन्तःकरण से स्थित हो, वह दुर्लभ है।

गीता में भी भगवान् ने कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतित सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

हजारों मनुष्यों में से कोई एक मनुष्य अन्तःकरण की शुद्धि के लिये यत्न करता है, फिर उनमें से भी कोई एक बिरला पुरुष आत्मा को यथार्थ जानता है॥ ५॥

मूलम्।

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता नहि॥ ६॥

पदच्छेदः।

धर्मार्थकाममोक्षेषु, जीविते, मरणे, तथा, कस्य, अपि, उदारचित्तस्य, हेयोपादेयता, नहि॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु	धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में
जीविते	जीने में
तथा	और
मरणे	मरण में
कस्य	किस
उदारचित्तस्य	उदार चित्त की
हेयोपादेयता	त्याग और ग्रहण
नहि	नहीं है ॥

भावार्थ।

हे शिष्य ! ऐसा पुरुष संसार में दुर्लभ है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष और जीने-मरने में उदासीन हो अर्थात् उसको सुखाकार दुःखाकार वृत्ति न व्यापे, अपनी अद्वैत आत्मा में शान्त होकर स्थित रहे। सुख-दुःख सापेक्षिक है। जिसको सुख होता है, उसी को दुःख भी होता है। जिसको दुःख होता है, उसी को सुख भी होता है। हे प्रिय ! तुम इन दोनों से रहित होकर विचरो ॥ ६ ॥

मूलम्।

वाञ्छा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ।
यथा जीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथासुखम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः।

वाञ्छा, न, विश्वविलये, न, द्वेषः, तस्य, च, स्थितौ, यथा, जीविकया, तस्मात्, धन्यः, आस्ते, यथासुखम् ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
विश्वविलये	विश्व के लय होने में
वाञ्छा	इच्छा
न	नहीं है

च=और
तस्य=उसकी
स्थितौ=स्थिति में
द्वेषः=द्वेष
न=नहीं है
तस्मात्=इस कारण
धन्यः=धन्य पुरुष वह है
च=जो
यथाजीविकया=यथाप्राप्त आजीविका द्वारा
यथासुखम्=सुखपूर्वक
आस्ते=रहता है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे पुत्र ! विश्व के लय होने की इच्छा जिस विद्वान् को नहीं है, और विश्व के स्थिर रहने में जिसको द्वेष नहीं है, अर्थात् प्रपञ्च रहे अथवा नष्ट हो जाय, और जो अपने को विश्व का साक्षी, अधिष्ठान समझकर स्थित है, वही विद्वान् कृतकृत्य है, धन्य है, पूजने योग्य है ॥ ७ ॥

मूलम् ।

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती ।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

कृतार्थः, अनेन, ज्ञानेन, इति, एवम्, गलितधीः, कृती, पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, आस्ते, यथासुखम् ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

अनेन=इस
ज्ञानेन=ज्ञान से
कृतार्थः=मैं कृतार्थ हूँ
इति एवम्=इस प्रकार

अन्वयः । शब्दार्थ ।

गलितधीः=गलित हुई है बुद्धि जिसकी, ऐसा
कृती=ज्ञानी पुरुष
पश्यत्=देखता हुआ

शृण्वन्-सुनता हुआ
स्पृशन्-स्पर्श करता हुआ
जिघ्रन्-सूँघता हुआ
अश्नन्-खाता हुआ
यथासुखम्-सुखपूर्वक
आस्ते-रहता है ॥

भावार्थ ।

मैं अद्वैत आत्म-ज्ञान द्वारा कृतार्थ हुआ हूँ, ऐसी बुद्धि भी जिस विद्वान् की उत्पन्न नहीं होती है, और आहारादिकों को करता हुआ भी जो शरीर-सुख को उल्लंघन से स्थित होता है, और बाह्य इन्द्रियों के व्यापारों के होने पर भी अज्ञानी मूर्खों की तरह खेद नहीं करता है, और जो खड़ा हुआ, बैठा हुआ, चलता हुआ भी समाहित चित्तवाला है, वही धन्य है, वही ब्रह्म-रूप है ॥ ८ ॥

मूलम् ।

शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च ।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे ॥ ९ ॥

पदच्छेदः ।

शून्या, दृष्टिः, वृथा, चेष्टा, विकलानि, इन्द्रियाणि, च, न, स्पृहा, न, विरक्तिः, वा, क्षीणसंसारसागरे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
क्षीणसंसारसागरे	नाश हुआ है संसाररूपी समुद्र जिसका, ऐसे पुरुष में
दृष्टिः शून्या	दृष्टि शून्य हो गई है
चेष्टा वृथा	व्यापार जाता रहा है
इन्द्रियाणि	इन्द्रियाँ
विकलानि	विकल हो गई हैं
न	न
स्पृहा	इच्छा है
वा	और
न	न
विरक्तिः	विरक्तता है ॥

भावार्थ ।

हे शिष्य ! जिस पुरुष का संसार-सागर क्षीण हो गया है, उसको विषय भोगों की इच्छा भी नहीं रहती है, और न उनसे विरक्त होने की इच्छा उसको रहती है। उस विद्वान् का मन और शरीरेन्द्रियादि बालक या उन्मत्त की तरह अपने व्यापारों से शून्य रहते हैं, और उसके शरीर की चेष्टा भी वृथा ही होती है। उसकी इन्द्रियाँ भी सब निर्बल होती हैं। आगे स्थित हुए विषयों का निर्णय नहीं कर सकता है। गीता में भी कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रन्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

सम्पूर्ण भूतों की जो आत्मज्ञान-रूपी रात्रि है, और जिसमें सब भूत सोए हुए हैं, उसमें विद्वान् जागता है। जिस अज्ञान-रूपी दिन में सब भूत जागते हैं, उसमें विद्वान् सोया हुआ रहता है ॥ ९ ॥

मूलम् ।

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति ।
अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतस ॥ १० ॥

पदच्छेदः ।

न, जागर्ति, न, निद्राति, न, उन्मीलति, न, मीलति, अहो, परदशा, क्व, अपि, वर्तते, मुक्तचेतसः ॥

अन्वयः। शब्दार्थ।

न जागर्ति=न जागता है
न निद्राति=न सोता है
न उन्मीलति=न पलक को खोलता है
च=और
न मीलति=न पलकको बंद करता है

अन्वयः। शब्दार्थ।

अहो=आश्चर्य है कि
क्वापि=कैसी
परदशा=उत्कृष्ट दशा
मुक्तचेतसः=ज्ञानी की
वर्तते=होती है ॥

भावार्थ।

हे शिष्य ! विद्वान् ऐसे दिन में जागता नहीं है। क्योंकि जो जागता है, वह नेत्र के पलकों को खोले रहता है। अर्थात् बाह्य विषयों को देखता है, और स्मरण भी करता है। ज्ञानी बाह्य विषयों को न देखता है, और न स्मरण करता है। इस वास्ते वह जागता नहीं है, और ज्ञानवान् सोता भी नहीं है। क्योंकि जो सोता है, वह नेत्रों के पलकों को बंद कर लेता है। है, सो विद्वान् ऐसा नहीं करता है, किन्तु बाहर के सब पदार्थों को ब्रह्म-रूप से देखता है।

प्रश्न—ऐसे ज्ञानवान् की कौन दशा होती है ?

उत्तर—अहो, बड़ा आश्चर्य है कि शान्तचित्तवाला कोई ज्ञानी एक अलौकिक उत्कृष्ट तुरीय अवस्था को प्राप्त होता है, उसी दशा का वर्णन चर्ममुख से बाहर है ॥ १० ॥

मूलम्।

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते ॥ ११ ॥

पदच्छेदः ।

सर्वत्र, दृश्यते, स्वस्थः, सर्वत्र, विमलाशयः, समस्त-वासनामुक्तः, मुक्तः, सर्वत्र, राजते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मुक्तः	जीवन्मुक्त ज्ञानी	दृश्यते	दिखलाई देता है
सर्वत्र	सब जगह	च	और
स्वस्थः	शान्त हुआ	सर्वत्र	सब जगह
सर्वत्र	सब जगह	समस्तवासनामुक्तः	सब वासनाओं से रहित
विमलाशयः	निर्मल अन्तःकरणवाला	राजते	विराजता है ॥

भावार्थ ।

अब ज्ञानवान् की अलौकिक दशा को दिखलाते हैं—

हे शिष्य ! विद्वान् जीवन्मुक्त सर्वत्र सुख-दुःख में स्वस्थ-चित्त रहता है । अज्ञानी सुख में हर्ष को और दुःख में शोक को प्राप्त होता है । ज्ञानवान् सुख-दुःख और हर्ष-शोक को बराबर जानकर, अपने आत्मानन्द में मग्न रहता है ।

अज्ञानी मित्र से राग और शत्रु से द्वेष करता है । ज्ञानवान् शत्रु और मित्र में समदृष्टिवाला रहता है । विद्वान् सम्पूर्ण अवस्थाओं में एकरस ज्यों का त्यों प्रकाशमान रहता है ॥ ११ ॥

मूलम् ।

पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गृह्णन् वदन् व्रजन् ।
ईहितानीहितैर्मुक्त मुक्त एव महाशयः ॥ १२ ॥

पदच्छेदः ।

पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गृह्णन्, वदन्, व्रजन्, ईहितानीहितैः, मुक्तः, मुक्तः, एव, महाशयः ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
पश्यन्	देखता हुआ	व्रजन्	जाता हुआ
शृण्वन्	सुनता हुआ	ईहितानीहितैः	राग-द्वेष से
स्पृशन्	स्पर्श करता हुआ	मुक्ताः	छूटा हुआ
जिघ्रन्	सूँघता हुआ	एव	निश्चय करके ऐसा
अश्नन्	खाता हुआ	महाशयः	महात्मा पुरुष
गृह्णन्	ग्रहण करता हुआ	मुक्तः	ज्ञानी है ॥
वदन्	बोलता हुआ		

भावार्थ ।

सर्वत्र देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ और चलता हुआ भी इच्छा-द्वेष से रहित ही होता है, क्योंकि उसका चित्त महान् ब्रह्म में स्थित है, और इसी से वह जीवन्मुक्त है ॥ १२ ॥

मूलम् ।

न निन्दति न च स्तौति न हृस्यति न कुप्यति ।
न ददाति न गृह्णाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः ॥ १३ ॥

पदच्छेदः ।

न, निन्दति, न, च, स्तौति, न, हृष्यति, न, कुप्यति, न, ददाति, न, गृह्णाति, मुक्तः, सर्वत्र, नीरसः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
न निन्दति	न निन्दा करता है
च	और
न स्तौति	न स्तुति करता है
न हृष्यति	न हर्ष को प्राप्त होता है
न कुप्यति	न क्रोध करता है

अन्वयः।	शब्दार्थ।
न ददाति	न देता है
न गृह्णाति	न लेता है
मुक्तः	ज्ञानी
सर्वत्र	सर्वत्र
नीरसः	उदासीन है ॥

भावार्थ।

अब जीवन्मुक्त के लक्षण को दिखाते हैं—

जो जीवन्मुक्त है, वह न किसी की निन्दा करता है, और न स्तुति करता है, और न हर्ष करता है, और न कभी कोप को प्राप्त होता है, अर्थात् जो संसारी पुरुष जीवन्मुक्त को आदर-सम्मान करते हैं, वह उनकी स्तुति नहीं करता है, और जो उसको निरादर करते हैं, उनकी वह निन्दा नहीं करता है, और न वह अति उत्तम खान-पान आदि के प्राप्त होने पर हर्ष को प्राप्त होता है, और न घृत-हीन बासी भोजन मिलने से वह शोक करता है, और न किसी से शरीर के निर्वाह के सिवाय अधिक वस्तु के ग्रहण करने की इच्छा करता है, और न किसी से लेकर दूसरे को देता है, और न किसी से किसी को कुछ दिलवाता है, किन्तु सदा वह अपने आपमें मग्न रहता है।

प्रश्न—संसार में तो लोग नग्न रहनेवालों को जीवन्मुक्त कहते हैं, और कोई-कोई भिक्षा माँगकर खानेवाले को जीवन्मुक्त कहते है।

उत्तर—संसारी लोग सकामी होते हैं। जो सकामी होते हैं, उनको नहीं मालूम होता है कि कौन ज्ञानी है, और कौन

अज्ञानी है। और उनको सत्य असत्य का विवेक भी नहीं होता है। वे दम्भ में फँसते हैं, जो हठ से वस्त्रों को त्यागकर मान के वास्ते नंगे रहते हैं, और शिष्यों के कान फूंकते हैं। एक से द्रव्य लेकर दूसरे को देते हैं, या नाम के वास्ते मठादिकों को बनाते हैं। वे जीवन्मुक्त कदापि नहीं हो सकते हैं। वे भी चेले की तरह सकामी हैं, उनके चेलों में स्त्री-पुत्रादिकों की कामना भरी है, उनके कल्याण के लिये वे चेले नंगों को गुरु बनाकर उनकी सेवा करते हैं। जिस महात्मा का चित्त विषय-भोग में है, वह अवश्य नरक को प्राप्त होता है। चाहे वह कितना ही नंगा रहे और पाखण्ड करे।

दृष्टान्त—एक महात्मा एक राजा के मन्दिर में बहुत काल तक रहे। एक दिन वे मर गए। उसी दिन राजा भी मर गया।

उस नगर के बाहर जंगल में एक तपस्वी योगी रहते थे। एक आदमी उनके पास बैठा था। तपस्वी कुछ सोच करके हँसने लगें, तब उस आदमी ने पूछा कि महाराज! बिना प्रयोजन आज आप क्यों हँसते हो? उन्होंने कहा, हम बिना प्रयोजन नहीं हँसते हैं, किन्तु राजा के पास जो महात्मा रहते थे, वे मर गये हैं और राजा भी मर गया है। और राजा स्वर्ग में गया और महात्मा नरक में गये। क्योंकि राजा का मन महात्मा में रहता था इसी वास्ते वह स्वर्ग में गया। उसको वैराग्य बना रहता था और महात्मा का मन राजभोगों में रहता था और वैराग्य से शून्य रहता था, इसी वास्ते वे नरक को गए।

दार्ष्टान्त—चाहे कितना ही नंगा रहे, वह कदापि जीवन्मुक्त नहीं हो सकता है। जो वासना से रहित है, वही जीवन्मुक्त है ॥ १३ ॥

मूलम् ।

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम् ।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः ॥ १४ ॥

पदच्छेदः ।

सानुरागाम्, स्त्रियम्, दृष्ट्वा, मृत्युम् वा, समुपस्थितम्, अविह्वलमनाः, स्वस्थः मुक्तः, एव, महाशयः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सानुरागाम्	प्रीति-युक्त	अविह्वलमनाः	व्याकुलता रहित होता हुआ
स्त्रियम्	स्त्री को	च	और
वा	अथवा	स्वस्थः	शान्त होता हुआ
समुपस्थितम्	समीप में स्थित	महाशयः	महापुरुष
मृत्युम्	मृत्यु को	एव	निश्चय करके
दृष्ट्वा	देखकर	मुक्तः	ज्ञानी है ॥

भावार्थ ।

अनुराग अर्थात् प्रीति के सहित स्त्री को देख करके जिसका मन कामातुर नहीं होता है और मृत्यु को समीप स्थित देखकर जिसका मन भय को नहीं प्राप्त होता है, किन्तु अपने आत्मानन्द में आनन्दित रहता है, वही जीवन्मुक्त है ॥ १४ ॥

मूलम् ।

सुखे दुःखे नरे नार्यां संपत्सु च विपत्सु च ।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः ॥ १५ ॥

पदच्छेदः ।

सुखे, दुःखे, नरे, नार्याम्, सम्पत्सु, च, विपत्सु, च, विशेषः, न, एव, धीरस्य, सर्वत्र, समदर्शिनः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सुखे	सुख में	विपत्सु	विपत्तियों में
दुःखे	दुःख में	सर्वत्र	सर्वत्र
नरे	नार में	समदर्शिनः	समदर्शी
नार्याम्	नारी में	धीरस्य	ज्ञानी का
सम्पत्सु	सम्पत्तियों में	न विशेषः	भेद नहीं है ॥

भावार्थ ।

जिसका चित्त सुख-दुःख में सम रहता है, अर्थात् शरीर का अतिसुख होने से जो हर्ष को नहीं प्राप्त होता है, और शरीर को खेद होने से जो शोक को नहीं प्राप्त होता है, और सम्पदा के प्राप्त होने पर जिसको हर्ष नहीं होता है, और विपदा के आने पर जिसको शोक नहीं होता है, वही जीवन्मुक्त है ॥ १५ ॥

मूलम् ।

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता ।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे ॥ १६ ॥

पदच्छेदः ।

न, हिंसा, न, एव, कारुण्यम्, न, औद्धत्यम्, न, च, दीनता, न, आश्चर्यम् न, एव, च, क्षोभः, क्षीणसंसरणे, नरे ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
क्षीणसंसरणे=	क्षीण हुआ है संसार जिसका ऐसे
नरे	मनुष्य में
न हिंसा	न हिंसा है
न कारुण्यम्	न दयालुता है
न औद्धत्यम्	न अनम्रता है
च	और
न दीनता	न दीनता है
न आश्चर्यम्	न आश्चर्य है
न क्षोभः	न क्षोभ है ॥

भावार्थ।

जो वासना-रहित पुरुषों के साथ न द्रोह करता है और न दीन के साथ करुणा करता है, और न शारीरिक सुख के लिये किसी के आगे हाथ बढ़ाता है, और न कभी आश्चर्य को प्राप्त होता है, और न कभी क्षोभ को प्राप्त होता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त है ॥ १६ ॥

मूलम्

न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः ।
असंसक्तमनाः नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते ॥ १७ ॥

पदच्छेदः।

न, मुक्तः, विषयद्वेष्टा, न, वा, विषयलोलुपः, असंसक्तमनाः, नित्यम्, प्राप्ताप्राप्तम्, उपाश्नुते ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
मुक्तः	जीवन्मुक्त
न विषयद्वेष्टा	न विषय में द्वेष करने वाला
वा	अथवा
न विषय लोलुपः	न विषय में लोभी है
नित्यम्	सदा
असंसक्तमनाः	आसक्ति-रहित मन-वाला होता हुआ
प्राप्ताप्राप्तम्	प्राप्त और अप्राप्त वस्तु को
उपाश्नुते	भोगता है ॥

भावार्थ ।

जो विषयों के साथ द्वेष नहीं करता है, और जो विषय-लोलुप नहीं है किन्तु असंसक्त मनवाला है, अर्थात् जिसका मन कहीं आसक्त नहीं है। प्रारब्धवश से जो प्राप्त होता है, उसको भोगता है। जो नहीं प्राप्त होता, उसकी इच्छा नहीं करता है, वही जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ १७ ॥

मूलम् ।

समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः ।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः ॥ १८ ॥

पदच्छेदः ।

समाधानासमाधानहिताहितविकल्पाः, शून्यचित्तः, न, जानाति, कैवल्यम्, इव, संस्थितः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
शून्यचित्तः=	बाहर से शून्य चित्तवाला ज्ञानी	जानाति=	जानता है
समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः=	समाधान और असमाधान, हित और अहित की कल्पना को	परन्तु=	परन्तु
न=	नहीं	कैवल्यम्=	मोक्ष-रूप
		इव=	सा
		संस्थितः=	स्थित है ॥

भावार्थ ।

जो समाधानता और असमाधानता को अर्थात् हित और अहित की कल्पना को नहीं जानता है, ऐसा शून्य चित्तवाला जो विदेह कैवल्य को प्राप्त हुआ है, वही जीवन्मुक्त है ॥ १८ ॥

मूलम् ।

निर्ममो निरहङ्कारो न किञ्चिदिति निश्चितः ।
अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ १९ ॥

पदच्छेदः ।

निर्ममः, निरहङ्कारः, न, किञ्चित्, इति, निश्चितः, अन्तर्गलितसर्वाशः, कुर्वन्, अपि, न, लिप्यते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अन्तर्गलितसर्वाशः=	अभ्यन्तर में गलित हो गई हैं सब आशाएं जिसकी, ऐसा पुरुष	न किञ्चित्=	कुछ भी नहीं है
निर्ममः=	ममतारहित है	इति=	ऐसा
निरहङ्कारः=	अहङ्कार-रहित है	निश्चितः=	निश्चय करता
		कुर्वन्=	कर्म करता हुआ भी
		न लिप्यते=	लिप्त नहीं होता है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! जो विद्वान् 'अहं' 'मम' अभिमान से शून्य है, अर्थात् 'यह मैं हूँ' और 'यह मेरा है,' इस प्रकार के अभिमान से जो रहित है, और अधिष्ठान चेतन से अतिरिक्त किंचित् भी सत्य नहीं है, ऐसे निश्चयवाला जो पुरुष है, वह सर्व व्यवहारों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता है। क्योंकि उसको कर्तृत्व अभिमान नहीं है ॥ १९ ॥

मूलम् ।

मनःप्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः ।
दशां कामपि संप्राप्तो भवेद्गलितमानसः ।। २० ।।

पदच्छेदः ।

मनः प्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः, दशाम्, काम, अपि, संप्राप्तः, भवेत्, गलितमानसः ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
गलित-मानसः=	गलित हुआ है मन जिसका, ऐसा ज्ञानी	अपि=	भी
मनःप्रकाश-संमोहस्वप्न-जाड्यविव-र्जितः	मन के प्रकाश से चित्त की शान्ति से स्वप्न और जड़ता अर्थात् सुषुप्ति से वर्जित होता हुआ	काम्=	अनिर्वचनीय
		दशाम्=	दशा को
		संप्राप्तः=	प्राप्त
		भवेत्=	होता है ।।

भावार्थ ।

हे शिष्य ! गलित हो गई है अन्तःकरण की वृत्ति जिसकी अर्थात् जिस विद्वान् के मन के सङ्कल्प विकल्पादि नहीं फुरते हैं और दूर हो गया है स्त्री-पुत्रादिकों से मोह जिसका, अन्तरात्मा की तरफ है चित्त का प्रवाह जिसका, और जो जड़ता से रहित है, अपने आत्मानन्द में सदैव ही स्थित है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है ।। २० ।।

इति श्रीअष्टावक्रगीतायां सप्तदशकं प्रकरणं समाप्तम् ।। १७ ।।

अठारहवाँ प्रकरण ।

—:o:—

मूलम् ।

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भवति भ्रमः ।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ।। १ ।।

पदच्छेदः ।

यस्य, बोधोदये, तावत्, स्वप्नवत्, भवति, भ्रमः, तस्मै, सुखैकरूपाय, नमः, शान्ताय, तेजसे ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यस्य बोधोदये	जिसके बोध के उदय होने पर
तावत्	पहले
भ्रमः	भ्रान्ति
स्वप्नवत्	स्वप्न के समान
भवति	होती है
तस्मै	उस
सुखैकरूपाय	आनन्द-रूप
शान्ताय	शान्त-रूप
च	और
तेजसे	तेजमय-रूप को
नमः	नमस्कार है ।।

भावार्थ ।

अब अठारहवें प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं—

इस प्रकरण में शान्ति की प्रधानता को दिखलाते हुए प्रथम

शान्त-रूप परमात्मा को नमस्कार करते हैं। जो आत्मा शान्त-रूप है, जिसमें सङ्कल्प-विकल्प नहीं उत्पन्न होते हैं, और जो सुख और प्रकाश-स्वरूप है, जिसके स्वरूप के ज्ञान होते ही जगद्भ्रम स्वप्न की तरह मिथ्या प्रतीत होने लगता है, उस आत्मा को नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

मूलम् ।

अर्जयित्वाऽखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान् ।
न हि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत् ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

अर्जयित्वा, अखिलान्, अर्थान्, भोगान्, आप्नोति, पुष्कलान्, न, हि, सर्वपरित्यागम्; अन्तरेण, सुखी, भवेत् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अखिलान्	संपूर्ण
अर्थान्	धनों को
अर्जयित्वा	जोड़ करके
पुष्कलान्	सब
भोगान्	भोगों को
+पुरुषः	पुरुष
हि	अवश्य
आप्नोति	प्राप्त होता है
परन्तु	परन्तु
सर्वपरित्यागम्	सबके परित्याग के
अन्तरेण	बिना
सुखी	सुखी
न भवेत्	नहीं होता है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—धनी लोग भी तो संसार में सुखी दिखाई पड़ते हैं, उनमें और ज्ञानी में क्या भेद है ?

उत्तर–अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! धनी लोग स्त्री-पुत्र, धनादि अर्थों का संग्रह करके उनको भोंगते हैं, और उनके नाश होने पर अत्यन्त दुःखी होते हैं। देखो—

पृथिवीं धनपूर्णां चेदिमां सागरमेखलाम् ।
प्राप्नोति पुनरप्येष स्वर्गमिच्छति नित्यशः ।।

यदि समुद्रपर्यंत धन से पूर्ण यह पृथिवी पुरुष को मिल भी जावे, तो भी वह स्वर्ग की नित्य ही इच्छा करता है।

संसार में धनवान् ही प्रायः रोगी दीखते हैं। किसी धनी को क्षुधा का, किसी को प्रमेह आदि का रोग बना ही रहता है। धनियों की परस्पर स्पर्धा बहुत रहती है। उनको राजा और चोरों से भय नित्य ही बना रहता है। चोरों के भय से रात्रि को नींद नहीं आती है। धन के संग्रह करने में और धन की रक्षा करने में उनको बड़ा क्लेश होता है। संसार में जितना दुःख धनियों को है, उतना दुःख गरीबों को नहीं है। धन से जो विषय-भोगादिकों से सुख है, वह सुख नाशी है, तुच्छ है, इस वास्ते सम्पूर्ण धनादिक विषय-भोगों के त्यागे विना सुख-रूपी आत्मा की प्राप्ति कदापि नहीं होती है। जैसे वंध्या के पुत्र को असत् जान लेना ही उसका त्याग है। विना असत् जानने के उसका त्याग बनता नहीं है। क्योंकि जो वस्तु तीनों कालों में है ही नहीं, उसका त्याग कैसे किया जावे, इसलिए उसका मिथ्या जानना ही त्याग है। इसी तरह संकल्प-विकल्प-रूपी जितना जगत् है, उसको असत् जानलेना ही उसका त्याग है, इसी वार्ता को अब दिखलाते हैं ।। २ ।।

मूलम् ।

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः ।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम् ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः, कुतः, प्रशमपीयूषधारासारम्, ऋते, सुखम् ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः	कर्म-जन्य दुःख-रूपी सूर्य की ज्वाला से भस्म हुआ है मन जिसका, ऐसे पुरुष को
प्रशमपीयूषधारासारम्	शान्ति-रूपी अमृत की धारा की वृष्टि
ऋते	बिना
सुखम्	सुख
कुतः	कहाँ ॥

भावार्थ ।

कर्तव्य-रूपी जितने कर्म हैं, उनसे जन्य जो दुःख हैं, वही एक सूर्य की तप्तरूपा अग्नि है । उस अग्नि से जिसका मन दग्ध हो रहा है, उसको शान्ति-रूपी अमृत-जल के बिना कदापि सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

भवोऽयं भावनामात्रो न किञ्चित्परमार्थतः ।
नास्त्यभावःस्वभावानां भावाभावविभाविनाम् ॥ ४ ॥

पदच्छेदः ।

भवः, अयम्, भावनामात्रः, न, किञ्चित्, परमार्थतः, न, अस्ति, अभावः, स्वभावानाम्, भावाभावविभाविनाम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अयम्	यह
भवः	संसार
भावनामात्रः	भावना-मात्र है अर्थात् संकल्प मात्र है
परमार्थतः	परमार्थ से
किञ्चित्	कुछ
न	नहीं है
हि	क्योंकि
भावाभावविभाविनाम्	भाव-रूप और अभाव-रूप पदार्थों में स्थित हुए
स्वभावानाम्	स्वभावों का
अभावः	अभाव
न अस्ति	नहीं होता है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! यह जगत् संकल्पमात्र है । परमार्थ-दृष्टि से तो आत्मा से अतिरिक्त कोई भी वस्तु भाव-रूप अर्थात् सत्य-रूप नहीं है, आत्मा ही सत्य-रूप है, और सम्पूर्ण प्रपंच अभाव-रूप है अर्थात् असत्य-रूप है ।

प्रश्न—अभाव-रूप प्रपंच भी कालादिकों के वश से भाव स्वभाववाला हो जावेगा ?

उत्तर—भाव-रूप और अभाव-रूप में स्थित स्वभावों का अभाव-रूप कदापि नहीं हो सकता है अर्थात् भाव पदार्थ का अभाव कदापि नहीं होता है और अभाव पदार्थ का भाव कदापि नहीं होता है । जैसे मनोराज के और स्वप्न के पदार्थों का कदापि भाव नहीं होता है, वैसे प्रपंच के पदार्थों का कदापि भाव नहीं

होता है। जैसे मनोराज स्वप्न के पदार्थ सब संकल्प मात्र है, वैसे जाग्रत के पदार्थ भी सब संकल्प-मात्र हैं। संकल्प के दूर होने से संसार-रूपी ताप भी दूर हो जाता है। संकल्पों का नाश ही मोक्ष का हेतु है ॥ ४ ॥

मूलम् ।

न दूरं न च सङ्कोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम् ।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरञ्जनम् ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

न, दूरम्, न, च, सङ्कोचात्, लब्धम्, एव, आत्मनः, पदम्, निर्विकल्पम्, निरायासम्, निर्विकारम्, निरञ्जनम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
आत्मनः	आत्मा का
पदम्	स्वरूप
दूरम्	दूर
न	नहीं है
च	और

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सङ्कोचात् लब्धम् न	संकोच से प्राप्त नहीं है अर्थात् परिच्छिन्न नहीं है
निर्विकल्पम्	संकल्प रहित है
निरायासम्	प्रयत्न रहित है
निर्विकारम्	विकार रहित है
निरञ्जनम्	दुःख रहित है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—संकल्प के दूर करने-मात्र से कैसे आत्मा-रूपी अमृत की प्राप्ति होती है ?

उत्तर—आत्मा किसी की दूर नहीं है और आत्मा परिच्छिन्न भी नहीं है, क्योंकि सर्वत्र व्यापक है, इसी वास्ते आत्मा नित्य ही प्राप्त है। मन के संकल्प के वश से अज्ञानी पुरुष आत्मा को अप्राप्त की तरह मानते हैं।

जैसे किसी पुरुष के कंठ में स्वर्ण का भूषण पड़ा है, तथापि उसके भ्रम के वश से ऐसा ज्ञान होता है कि मेरा भूषण कहीं खो गया है। यद्यपि वह भूषण उसको प्राप्त भी है, परन्तु भ्रम से अप्राप्त की तरह प्रतीत होता है। वैसे ही यह आत्मा सर्व पुरुषों को नित्य प्राप्त भी है, पर अपने स्वरूप के अज्ञान होने से संकल्पों के वश से अप्राप्त की तरह हो रहा है। आत्मा विकल्पों से अतीत है अर्थात् मन के विकल्पों के अभाव हो जाने से जाना जाता है। एवं वह विकारों से भी रहित है, और उपाधियों से शून्य है और सदैव एकरस है ॥ ५ ॥

मूलम् ।

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः ।
वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

व्यामोहमात्रविरतौ, स्वरूपादानमात्रतः, वीतशोकाः, विराजन्ते, निरावरणदृष्टयः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
व्यामोहमात्रविरतौ=	**विशेष मोह के निवृत्त होने पर**	**वीताशोकाः=**	**शोक से रहित**
स्वरूपादानमात्रतः=	**अपने स्वरूप के ग्रहणमात्र से ही**	**निरावरणदृष्टयः=**	**आवरण रहित दृष्टिवाले अर्थात् ज्ञानी पुरुष**
		विराजन्ते=	**शोभायमान होते हैं ॥**

भावार्थ ।

प्रश्न—जब आत्मा नित्य ही प्राप्त है, तब फिर शास्त्र के

विचार की और आचार्य के उपदेश की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! अज्ञान-रूपी मोह का आवरण सबके अन्तःकरण में हो रहा है। उस आवरण से आत्मा का साक्षात्कार किसी को नहीं होता है। उस आवरण के दूर करने के लिये गुरु और शास्त्र की आवश्यकता है।

जैसे दश पुरुषों ने एक नदी के पार उतर करके कहा कि सबको गिनती कर लो, कोई नदी में बह तो नहीं गया है। उनमें से एक पुरुष जब गिनती करने लगा, तब उसने अपने को छोड़कर औरों को गिना, तब नव आदमी गिनती में आए। उसने कहा, दशवाँ पुरुष नदी में बह गया है। फिर दूसरे ने गिना, तब उसने भी अपने को छोड़ करके ही गिना, तब भी नव ही पुरुष पाए। इसी तरह हर एक ने अपने को छोड़ करके गिना और एक कम पाया। तब उन सबको निश्चय हो गया कि दशवाँ पुरुष नदी में बह गया, तो फिर वे सब मिलकर रोने लगें। उधर से एक बुद्धिमान् पुरुष आया, जिसने उनको रोते देखकर पूछा, तुम क्यों रोते हो ? उन्होंने कहा, हम दश आदमी नदी से पार उतरे उनमें से एक आदमी नदी में बह गया है। उनकी वार्ता को सुनकर उस आदमी ने जब उनको गिना, तब वे दश पूरे थे। उसने जाना ये सब मूर्ख हैं। तब उनसे कहा, हमारे सामने तुम फिर गिनो। उसके सामने जब एक उनमें से गिनने लगा, तब उसने अपने को न गिना, और कहा केवल नव हैं। तब उसने कहा, दसवाँ तू है। तब उसको ज्ञान हुआ कि हम सब पूरे हैं, कोई भी बहा नहीं।

दार्ष्टान्त ।

अज्ञान के वश होकर जो अपने आत्मा को तीर्थों में और पर्वतों में खोजता फिरता है, वह दशवें पुरुष की तरह अपने को नहीं जानता है। जब गुरु उसको उपदेश करता है, तब वह जानता है कि सुख-रूप आत्मा मैं हूँ। इसलिये गुरु और शास्त्र की भी आवश्यकता है।

तात्पर्य यह है कि जिसने गुरु और शास्त्र के उपदेश को श्रवण करके अपने स्वरूप का निश्चय कर लिया है, उसके अन्तः-करण में फिर मोह-रूपी आवरण कदापि नहीं रहता है, किन्तु वह संसार में शोभा को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

मूलम् ।

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः ।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः ।

समस्तम्, कल्पनामात्रम्, आत्मा, मुक्तः, सनातनः, इति, विज्ञाय, धीरः, हि, किम्, अभ्यस्यति, बालवत् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
समस्तम्	सब जगत्
कल्पनामात्रम्	कल्पना-मात्र है
आत्मा	आत्मा
मुक्तः	मुक्त है
च	और
सनातनः	सनातन है
इति	ऐसा
विज्ञाय	ज्ञान करके
धीरः	पंडित
बालवत्	बालकों की तरह
किम्	क्या
अभ्यस्यति	अभ्यास करता है ॥

भावार्थ ।

सम्पूर्ण जगत् मन की कल्पना-मात्र है ।

शुद्धो मुक्तः सदैवात्मा न वै बध्येत कर्हिचित् ।
बन्धमोक्षौ मनःसंस्थौ तस्मिञ्छान्ते प्रशाम्यति ॥

आत्मा शुद्ध है, नित्यमुक्त है, कदापि वह बंधायमान नहीं है, बंध और मोक्ष मन में स्थित है, उस मन के शान्त होने से बंध और मोक्ष भी शान्त हो जाते हैं ।

आत्मा नित्यमुक्त है, सनातन है, ऐसा निश्चय करके विद्वान् ज्ञानी बालक की तरह चेष्टा करता है ॥ ७ ॥

मूलम् ।

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम् ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

आत्मा, ब्रह्म, इति, निश्चित्य, भावाभावौ, च, कल्पितौ, निष्कामः, किम्, विजानाति, किम्, ब्रूते, च, करोति, किम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
आत्मा	जीवात्मा	इति	ऐसा
ब्रह्म	ब्रह्म है	निश्चित्य	निश्चय करके
च	और	निष्कामः	कामना-रहित पुरुष
भावाभावौ	भाव और अभाव	किम्	क्या
कल्पितौ	कल्पित है	विजानाति	जानता है

किम्=क्या
ब्रूते=कहता है
च=और
किम्=क्या
करोति=करता है ॥

भावार्थ ।

त्वं पद का अर्थ जो जीवात्मा है, और तत्पद का अर्थ जो ब्रह्म है, दोनों के अभेद को निश्चय करके भाव और अभाव अर्थात् भाव जो घटादि पदार्थ हैं, और उनका जो अभाव है, ये दोनों अधिष्ठानचेतन में कल्पित हैं । इस प्रकार समस्त जगत् को तुच्छ जानकर जिस विद्वान् की अविद्या नष्ट हो गई है, वह जिसको जानने की और कथन करने की इच्छा करता है, उसे न कथन ही करता है, न किसी कार्य को ही करता है । क्योंकि अब उसमें कर्तृत्वाभिमान नहीं है ॥ ८ ॥

मूलम् ।

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः ।
सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णीभूतस्य योगिनः ॥ ९ ॥

पदच्छेदः ।

अयम्, सः, अहम्, अयम्, न, अहम्, इति, क्षीणाः, विकल्पनाः, सर्वम्, आत्मा, इति, निश्चित्य, तूष्णीभूतस्य, योगिनः ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

सर्वम्=सब
आत्मा=आत्मा
इति=ऐसा

अन्वयः । शब्दार्थ ।

निश्चित्य=निश्चय करके
तूष्णीभूतस्य=चुपचाप हुए
योगिनः=योगी की

इति-ऐसी
विकल्पना:-कल्पनाएँ कि
अयम्-यह
सः-वह
अहम्-मैं हूँ
अयम्-यह
अहम्-मैं
न-नहीं हूँ
क्षीणाः-क्षीण हो जाती है ॥

भावार्थ ।

जिस विद्वान् ने ऐसा निश्चय किया है कि सर्वरूप आत्मा ही है। वह बाह्य शरीरादिकों के व्यापार से रहित हो जाता है, और वही जीवन्मुक्त भी कहा जाता है। कहा भी है—

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि ।
एकीकृत्य विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते ॥

क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में जो ध्येया, कार-वृत्ति हुई थी, उस वृत्ति के नष्ट होने पर दोनों की एकता को निश्चय करके ही पुरुष मुक्त हो जाता है, अर्थात् जिस काल में मन नाना प्रकार की कल्पनाओं से रहित हो जाता है, उसी काल में वह मुक्त कहा जाता है ॥ ९ ॥

मूलम् ।

न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता ।
न सुखं न च वा दुःखमुपशान्तस्य योगिनः ॥ १० ॥

पदच्छेदः ।

न, विक्षेपः, न, च, एकाग्र्यम्, न, अतिबोधः, न मूढ़ता, न, सुखम्, न, च, वा, दुःखम्, उपशान्तस्य, योगिनः ॥

अन्वय ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
उपशान्तस्य=शान्त		न अतिबोधः=न बोध है	
योगिनः=योगी को		न मूढ़ता=न मूर्खता है	
न विक्षेपः=न विक्षेप है		न सुखम्=न सुख है	
च=और		वा=और	
न एकाग्रयम्=न एकाग्रता है		न दुःखम्=न दुःख है ॥	

भावार्थ ।

अब संकल्प से रहित मन के स्वरूप को दिखाते हैं ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! जिसका मन संकल्प-विकल्प से रहित हो गया है, उसको न विक्षेप होता है, और न वह एकाग्रता के लिए उद्यम करता है । क्योंकि जिसको विक्षेप होता है, वही निरोध के लिये यत्न करता है । उसको पदार्थों का अत्यन्त ज्ञान या मूढ़ता नहीं होती है, और न उसको विषय-जन्य सुख या दुःख होता है । क्योंकि वह केवल आत्मानन्द में मग्न है ॥ १० ॥

मूलम् ।

स्वराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने ।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः ॥ ११ ॥

पदच्छेदः ।

स्वराज्ये, भैक्ष्यवृत्तौ, च, लाभालाभे, जने, वने, निर्विकल्प-स्वभावस्य, न, विशेषः, अस्ति, योगिनः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
स्वराज्ये	राज्य में	वने	वन में
भैक्ष्यवृत्तौ	भिक्षा वृत्ति में	निर्विकल्प स्वभावस्य	विकल्प-रहित स्वभाववाले
लाभालाभे	लाभ और अलाभ में	योगिनः	योगी को
जने	मनुष्यों के समूह में	विशेषः	कोई विशेषता
वा	या	न अस्ति	नहीं है ॥

भावार्थ ।

जीवन्मुक्त को स्वर्ग के राज्य मिलने पर भी न उनको हर्ष होता है, और भिक्षा-वृत्ति में न उनको विक्षेप होता है, और पदार्थ का लाभ और अलाभ दोनों उसको बराबर हैं, वन में रहे व घर में रहे, वह एकरस रहता है ॥ ११ ॥

मूलम् ।

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता ।
इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः ॥ १२ ॥

पदच्छेदः ।

क्वः, धर्म, क्व, च, वा, कामः, क्व, च, अर्था, क्व, विवेकता, इदम्, कृतम्, न, इति, द्वन्द्वैः, मुक्तस्य, योगिनः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
इदम्	यह	इति	इस प्रकार
कृतम्	किया गया है	द्वन्द्वैः	द्वन्द्व से
इदम्	यह	मुक्तस्य	छूटे हुए
न कृतम्	नहीं किया गया है	योगिनः	योगी को

धर्मः=धर्म
क्व=कहाँ है
वा=अथवा
कामः=काम
क्व=कहाँ है
च=और
अर्थः=अर्थ
क्व=कहाँ है
च=और
विवेकता=ज्ञान
क्व=कहाँ है

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि स्थिर चित्तवाले योगी को धर्म, काम और अर्थ के साथ कुछ प्रयोजन नहीं रहता है, और इस काम को मैंने कर लिया है, या इसको मैं करूँगा, इस प्रकार के द्वन्द्वों से जो रहित है, वही जीवन्मुक्त योगो है ॥ १२ ॥

मूलम्।

कृत्यं किमपि न एव न कापि हृदि रञ्जना।
यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः ॥ १३ ॥

पदच्छेदः।

कृत्यम्, किम्, अपि, न, एव, न, का, अपि. हृदि, रञ्जना, यथा, जीवनम्, एव, इह, जीवन्मुक्तस्य, योगिनः ॥

अन्वयः। शब्दार्थ।

जीवन्मुक्तस्य=जीवन्मुक्त
योगिनः=योगी को
कृत्यम्=कर्तव्य कर्म
किम् अपि न एव=कुछ भी नहीं है

अन्वयः। शब्दार्थ।

च=और
न=नहीं
हृदि=मन में
का अपि=कोई भी

रञ्जना अपि=अनुराग ही
इह=इस संसार में
यथा=जैसे
जीवनम्=जीवन है

एव= { वैसा ही है अर्थात् उसका भोग कर्मानुसार है ॥

प्रश्न—जब जीवन्मुक्त कोई क्रिया नहीं करेगा, तब उसके शरीर का निर्वाह कैसे होगा ?

उत्तर—जीवन्मुक्त पुरुष की कोई क्रिया अपने संकल्प से नहीं होती है, और न कुछ उसको करने-योग्य कर्म बाकी रहा है। क्योंकि उसको किसी पदार्थ में राग नहीं है, और राग के बिना कोई कृत्य कर्म है नहीं, और राग-द्वेष का हेतु जो अविद्या है, वह उसकी नष्ट हो गई है। उसके शरीर की यात्रा प्रारब्धवश से होती है ॥ १३ ॥

मूलम् ।

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता ।
सर्वसंकल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः ॥ १४ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, मोहः, क्व, च, वा, विश्वम्, क्व, तत्, ध्यानम, क्व, मुक्तता, सर्वसंकल्पसीमायाम्, विश्रान्तस्य, महात्मनः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सर्वसंकल्पसीमायाम्	संपूर्ण संकल्पों की सीमा में अर्थात् आत्मज्ञान में	क्व	कहाँ
विश्रान्तस्य	विश्रान्त हुए	मोह	मोह है
योगिनः	योगी को	च	और
		क्व	कहाँ
		विश्वम्	संसार है ॥

क्व-कहाँ	वा-और
तत्-वह	क्व-कहाँ
ध्यानम्-ध्यान है।	मुक्तिः-मुक्ति है॥

भावार्थ ।

जीवन्मुक्त के सब संकल्प नष्ट हो जाते हैं, इसी से उसको मोह भी किसी पदार्थ में नहीं रहता है, इसी से उसको दृष्टि में जगत् भी नहीं प्रतीत होता है, और न वह ध्यान की तथा मुक्ति की इच्छा करता है। क्योंकि उसके मन की इच्छा कोई भी बाकी नहीं रहती है ॥ १४ ॥

मूलम् ।

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै ।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १५ ॥

पदच्छेदः ।

येन, विश्वम्, इदम्, दृष्टम्, सः, न, अस्ति, इति, करोतु, वै, निर्वासनः, किम्, कुरुते, पश्यन्, अपि, न, पश्यति ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।	अन्वयः । शब्दार्थ ।
येन-जिस पुरुष से	अस्ति=है
इदम्-यह	वै-निश्चय करके
विश्वम्-विश्व घट, पट आदि	निर्वासनः-वासना रहित पुरुष
दृष्टम्-देखा गया है	किं कुरुते={ क्या करता है अर्थात् कुछ भी नहीं करता है
सः-वह	सः-वह
इति-ऐसा	पश्यन्-देखता हुआ
करोतु-करे	अपि-भी
तत्=वह अर्थात् विश्व	न पश्यति-नहीं देखता है ॥
न=नहीं	

भावार्थ।

जिसने इस विश्व को अर्थात् जगत् को देखा है, वह यह नहीं कह सकता है कि जगत् नहीं है, क्योंकि उसको जगत् होने और न होने की वासनाएँ बनी है, और जो निर्वासनिक पुरुष है, वह जगत् को देखता हुआ भी नहीं देखता है। क्योंकि वह सुसुप्ति-युक्त पुरुष की तरह मन के संकल्प और विकल्प से रहित है॥ १५॥

मूलम् ।

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत् ।
किं चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति ॥ १६ ॥

पदच्छेदः ।

येन, दृष्टम्, परम्, ब्रह्म, सः, अहम्, ब्रह्म, इति, चिन्तयेत्, किम्, चिन्तयति, निश्चिन्तः, द्वितीयम्, यः, न, पश्यति ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
येन	जिस पुरुष द्वारा	यः	जो पुरुष
परम्	श्रेष्ठ	निश्चिन्तः	निश्चिन्त हुआ
ब्रह्म	ब्रह्म	द्वितीयम्	दूसरे को
दृष्टम्	देखा गया है	न पश्यति	नहीं देखता है
सः अहम्	वह मैं ब्रह्म हूँ	सः	वह
इति	ऐसा	किं चिन्तयति	क्या चिन्ता करेगा॥
चिन्तयेत्	विचार करे		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि जिस पुरुष ने सबसे अलग ब्रह्म को

देखा है, उसी को ऐसा अनुभव है "अहं ब्रह्म" मैं ब्रह्म हूँ। उसको सारा जगत् ब्रह्म-रूप दिखाई देता है, और वह सर्व चिंता से रहित होकर कुछ भी चिन्तन नहीं करता है। और जो ब्रह्म का चिंतन है कि मैं ब्रह्म हूँ, उसको भी वह अभ्यास नहीं करता है ॥ १६ ॥

मूलम् ।

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ ।
उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम् ॥ १७ ॥

पदच्छेदः ।

दृष्टः, येन, आत्मविक्षेपः, निरोधम्, कुरुते, तु, असौ, उदारः, तु, न, विक्षिप्तः, साध्याभावात्, करोति, किम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
येन	जिस पुरुष द्वारा
आत्मविक्षेपः	आत्मा में विक्षेप
दृष्टः	देखा गया है
असौ	वह पुरुष
निरोधम्	चित्त के निरोध को
करोति	करता है
तु	परंतु
उदारः	ज्ञानी पुरुष
तु	तो
न विक्षिप्तः	विक्षेप-रहित है
+अतः एव	इसलिये
साध्याभावात्	साध्य के अभाव होने के कारण
सः	वह
किम्	क्या
करोति	करेगा अर्थात् कुछ भी न करेगा ॥

भावार्थ ।

जिस पुरुष ने अपने में विक्षेपों को देखा है, वही विक्षेपों के दूर करने के लिये चित्त के निरोध की चिंता को करता है।

जिसको कोई विक्षेप नहीं रहा है, वह विक्षेप के दूर करने के लिये चित्त का निरोध भी नहीं करता है ॥ १७ ॥

मूलम् ।

धीरो लोकविपर्यस्तो वर्त्तमानोऽपि लोकवत् ।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति ॥ १८ ॥

पदच्छेदः ।

धीरः, लोकविपर्यस्तः, वर्तमानः, अपि, लोकवत्, न, समाधिम्, न, विक्षेपम्, न, लेपम्, स्वस्य, पश्यति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
धीरः	ज्ञानी पुरुष
लोकविपर्यस्तः	लोक में विक्षेप रहित
च	और
लोकवत्	लोक की तरह
वर्त्तमानः अपि	रहता हुआ भी
न	न
स्वस्य	अपनी
समाधिम्	समाधि को
न	न
विक्षेपम्	विक्षेप को
च	और
न	न
लेपम्	बंधन को
पश्यति	देखता है ॥

भावार्थ ।

जो विद्वान् है, वह लोकों में विक्षप से रहित होकर प्रारब्धवशात् लोकों में रह करके वाधिता अनुवृत्ति करके व्यवहार को करता भी अपनी आत्मा में निर्लेप स्थित है, क्योंकि न वह समाधि करता है, और न विक्षेप को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

मूलम् ।

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः ।
नैव किञ्चित् कृतं तेन लोकदृष्टया विकुर्वता ॥ १९ ॥

पदच्छेदः ।

भावाभावविहीनः, यः, तृप्तः, निर्वासनः, बुधः, न, एव, किञ्चित्, कृतम्, तेन, लोकदृष्टया, विकुर्वता ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यः	जो
तृप्तः	तृप्त हुआ
बुधः	ज्ञानी
भावाभाव-विहीनः	भाव और अभाव से रहित है
च	और
निर्वासनः	वासना-रहित है
लोकदृष्टया	लोक दृष्टि में
तेन	उस के द्वारा
कुर्वता	किये जाने पर भी
किञ्चित् एव	कुछ भी
न कृतम्	नहीं किया गया है ॥

भावार्थ ।

जो विद्वान् अपने आत्मानन्द से ही तृप्त है, वह स्तुति और निन्दा आदि से रहित है, क्योंकि वह लोक दृष्टि से कर्त्ता होने पर भी अकर्त्ता है। आत्मज्ञान करके उसके कर्त्तृत्वादि अध्यास सब नष्ट हो गये हैं ॥ १९ ॥

मूलम् ।

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः ।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम् ॥ २० ॥

पदच्छेदः ।

प्रवृत्तौ, वा, निवृत्तौ, वा, न, एव, धीरस्य, दुर्ग्रहः, यदा, यत्, कर्त्तुम्, आयाति, तत्, कृत्वा, तिष्ठतः, सुखम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यदा	जब कभी	तिष्ठतः	समाधिस्थ
यत्	जो कुछ कर्म	धीरस्य	ज्ञानी पुरुष को
कर्त्तुम्	करने को	प्रवृत्तौ	प्रवृत्ति में
आयाति	आ पड़ता है	वा	अथवा
तत्	उसको	निवृत्तौ	निवृत्ति में
सुखम्	सुख-पूर्वक	दुग्रहः	दुराग्रह
कृत्वा	करके	न एव	कभी नहीं है ॥

भावार्थ ।

विद्वान् को प्रवृत्ति में और निवृत्ति में कोई आग्रह अर्थात् हठ नहीं है, क्योंकि वह कर्त्तृत्वादि अभिमान से रहित है। यदि प्रारब्ध के वश से विद्वान् को प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति करने को पड़ जावे, तब वह सुखपूर्वक उनको करता है, और असंग भी बना रहता है, क्योंकि उसको कर्त्तृत्वादिकों का अभिमान नहीं है ॥ २० ॥

मूलम् ।

निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः ।
क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत् ॥ २१ ॥

पदच्छेदः ।

निर्वासनः, निरालम्बः, स्वच्छन्दः, मुक्तबन्धनः, क्षिप्तः, संसारवातेन, चेष्टते, शुष्कपर्णवत् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निर्वासनः	वासना रहित
निरालम्बः	आलम्ब रहित
स्वच्छन्दः	स्वेच्छाचारी
मुक्तबन्धनः	बन्धन-रहित
ज्ञानिनः	ज्ञानी
संसारवातेन	प्रारब्ध-रूपी पवन से
क्षिप्तः	प्रेरणा किया हुआ
शुष्कपर्णवत्	सूखे पत्ते की तरह
चेष्टते	चेष्टा करता है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—यदि ज्ञानी निर्वासनिक है, तब वह किस से प्रेरणा किया हुआ कर्मों को करता है ।

उत्तर—ज्ञानी जिस हेतु से निर्वासनिक है, उसी हेतु से वह निरालम्ब भी है; अर्थात् कर्तव्यता का जो अनुसंधान अर्थात् चिन्तन है, उससे वह रहित है, और स्वच्छन्द भी है अर्थात् वह राग-द्वेषादिकों के अधीन है। और बन्ध का हेतु जो अज्ञान है, उससे रहित है। जैसे-सूखा पत्ता वायु से प्रेरित होकर इधर-उधर डोलता है, वैसे ही ज्ञानी प्रारब्ध-रूपी वायु से चलाया हुआ इधर-उधर फिरता है ॥ २१ ॥

मूलम् ।

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता ।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते ॥ २२ ॥

पदच्छेदः ।

असंसारस्य, तु, क्व, अपि, न, हर्षः, न, विषादता, सः, शीतलमनाः, नित्यम्, विदेहः, इव, राजते ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

असंसारस्य–ज्ञानी को
न–न
तु–तो
क्व अपि–कभी
हर्षः–हर्ष है
च–और
न–न
विषादता–शोक है
सः–वह
शीतलमनाः–शान्त मनवाला
नित्यम्–सदा
विदेहः इव–मुक्त की तरह
राजते–शोभायमान रहता है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! ज्ञानी संसार से रहित है । संसार का हेतु अर्थात् कारण अज्ञान जिसमें न रहे, उसी का नाम असंसारी है और हर्ष विषादादि भी उसमें नहीं उत्पन्न होते हैं इसी से वह शीतल हृदय है और विदेहमुक्त की तरह वह रहता है ॥ २२ ॥

मूलम् ।

कुत्रापि न जिहासाऽस्ति आशा वाऽपि न कुत्रचित् ।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः ॥ २३ ॥

पदच्छेदः ।

कुत्र, अपि, न, जिहासा, अस्ति, आशा, वा, अपि, न, कुत्रचित्, आत्मारामस्य, धीरस्य, शीतलाच्छतरात्मनः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
आत्मारामस्य-	आत्मा में रमण करने वाले	जिहासा-	त्याग की इच्छा
शीतलाच्छतरात्मनः-	शीतल और अति निर्मल चित्तवाले	अस्ति-	है
धीरस्य-	ज्ञानी को	वा अपि-	और
न-	न	न-	न
कुत्र अपि-	कहीं	कुत्रचित्-	कहीं
		आशा-	ग्रहण की इच्छा
		अस्ति-	है ॥

भावार्थ ।

हे शिष्य ! अपनी आत्मा में ही जो नित्य रमण करनेवाला है, उसका चित्त भी स्थिर रहता है। उसकी इच्छा किसी पदार्थ के ग्रहण और त्याग में नहीं रहती है और न वह अनर्थ को करता है, क्योंकि अनर्थ का हेतु उसमें बाकी नहीं रहा है ॥ २३ ॥

मूलम् ।

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया ।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता ॥ २४ ॥

पदच्छेदः ।

प्रकृत्या, शून्यचित्तस्य, कुर्वतः, अस्य, यदृच्छया, प्राकृतस्य, इव, धीरस्य, न, मानः, न, अवमानता ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
प्रकृत्या	स्वभाव से	धीरस्य	ज्ञानी को
यदृच्छया	प्रारब्ध करके	न	न
प्राकृतस्य	अज्ञानी की	मानः	मान है
इव	तरह	च	और
कुर्वतः	करता हुआ	न	न
अस्य	इस	अवमानता	अपमान है ॥
शून्यचित्तस्य	विकाररहितचित्तवाले		

भावार्थ ।

स्वभाव से ही जिसका चित्त शून्य है, अर्थात् विकार से रहित है, कदापि विकारी नहीं होता है। आत्मा में ही जो शान्ति को प्राप्त हुआ है, ऐसा जो ज्ञानवान् पुरुष है, व अज्ञानी की तरह प्रारब्धवश से चेष्टा को करता हुआ भी हर्ष और शोक को नहीं प्राप्त होता है। अपने मान-अपमान का भी उसका अनुसंधान नहीं है ॥ २४ ॥

अब ज्ञानी के अनुभव को दिखाते हैं—

मूलम् ।

कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा ।
इति चिन्तानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न ॥ २५ ॥

पदच्छेदः ।

कृतम्, देहेन, कर्म, इदम्, न, मया, शुद्धरूपिणा, इति, चिन्तानुरोधी, यः, कुर्वन्, अपि, करोति, न ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
इदम्=यह		इति=इस प्रकार	
कर्म=कर्म		यः=जो	
देहेन=देह से		चिन्तानुरोधी=चिन्ता करनेवाला	
कृतम्=किया गया		सः=वह	
मया=मुझ		कुर्वन्=कर्म करता हुआ	
शुद्धरूपिणा=शुद्ध-रूप से		अपि=भी	
न=नहीं		न करोति=नहीं करता है ॥	

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक! ज्ञानी ऐसा मानता है कि यह कर्म देह ने किया है, शुद्ध-रूप आत्मा ने नहीं किया है। इसी कारण वह कर्मों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।

प्रश्न—अज्ञानी पुरुष व्यभिचार कर्मों को करके यदि ऐसा कहे कि यह सब कर्म देह ने किया है, तब उसको भी मुक्ति होनी चाहिए?

उत्तर—अज्ञानी को कर्मों के फल में अध्यास बना रहता है, क्योंकि शुभ कर्म करने से उसके चित्त में हर्ष उत्पन्न होता है और अशुभ कर्म करने से उसके चित्त में भय और लज्जा उत्पन्न होती है, और व्यभिचार-कर्म करने से छिपाने का प्रयत्न करता है, इस वास्ते उसका निश्चय कच्चा है, वह कदापि मुक्त नहीं हो सकता है, और ज्ञानवान् का व्यवहार उससे उलटा है। शुभ कर्म करने से उसके चित्त में हर्ष नहीं होता है और अशुभ कर्म करने से उसके चित्त में भय और लज्जा नहीं होती है। और व्यभिचार-कर्म करने के लिए वह प्रयत्न नहीं करता है। जिस

पुरुष का स्त्री आदि में राग होता है और जो उसके संग से आनन्द मानता, वही अज्ञानी व्यभिचार के लिये प्रयत्न करता है। जिस पुरुष को कभी मिश्री खाने को नहीं मिली है और न उसके रस को जानता है, वही गुड़ या राब के खाने के लिये यत्न करता है। जिसको नित्य ही मिश्री खाने को मिलती है, वह कदापि गुड़ के रस के लिये यत्न नहीं करता है। जो नीम का कीट है वा विष्ठा का ही है, वह मिश्री के स्वाद को नहीं जानता। अज्ञानी पुरुष विष्टा-रूपी विषयानन्द का स्वाद लेने-वाला है। ज्ञानवान् आत्मानन्द-रूपी मिश्री के स्वाद का लेने-वाला है, इस वास्ते अज्ञानी के आनन्द को नहीं जान सकता है॥ २५॥

मूलम्।

अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते॥ २६॥

पदच्छेदः।

अतद्वादी, इव, कुरुते, न, भवेत्, अपि, बालिशः, जीवन्मुक्तः, सुखी, श्रीमान्, संसारन्, अपि, शोभते॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
अतद्वादी इव	उलटा अर्थात् विरुद्ध उस कहनेवाले की तरह कि
अहं इदं कार्यं न करिष्यामि	मैं इस कार्य को नहीं करूँगा
जीवन्मुक्तः	ज्ञानी
कुरुते	कार्य को करता है
अपि	तो भी
बालिशः	मूर्ख
न भवेत्	नहीं होता है अर्थात् मोह को नहीं प्राप्त होता है
अतएव	इसीलिये
संसरन्	व्यवहार को करता हुआ

सः=वह
सुखी=सुखी
श्रीमान्=शोभायमान
शोभते=शोभा को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

मैं इस कार्य को करूँगा ऐसा न कहता हुआ जीवन्मुक्त प्रारब्धवश से कार्य को करता है, पर बालक की तरह वह मूर्ख नहीं हो जाता है । सांसारिक व्यवहार को करता हुआ भी वह प्रसन्न शान्तचित्तवाला शोभायमान प्रतीत होता है ॥ २६ ॥

मूलम् ।

नानाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः ।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति ॥ २७ ॥

पदच्छेदः ।

नानाविचारसुश्रान्तः, धीरः, विश्रान्तिम्, आगतः, न, कल्पते, न जानाति, न, शृणोति, न, पश्यति ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

यतः=जिस कारण
नानाविचार-सुश्रान्तः=द्वैत के विचार से निवृत्त हुआ
धीरः=ज्ञानी
विश्रान्तिम्=शान्ति को
आगतः=प्राप्त हुआ है

अन्वयः । शब्दार्थ ।

अतएव=इसी कारण
सः=वह
न कल्पते=न कल्पना करता है
न जानाति=न जानता है
न शृणोति=न सुनता है
न पश्यति=न देखता है ॥

भावार्थ ।

हे शिष्य ! नाना प्रकार के विचारों से रहित ज्ञानी अन्तरात्मा

में ही शान्ति को प्राप्त रहता है। वह संकल्पादि मन के व्यापारों को नहीं करता है और न बुद्धि के व्यापारों को करता है, और न वह इन्द्रियों के व्यापारों को करता है, क्योंकि उसमें कर्त्तृत्वादिकों का अभिमान नहीं है ॥ २७ ॥

मूलम् ।

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः ।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः ॥ २८ ॥

पदच्छेदः ।

असमाधेः, अविक्षेपात्, न, मुमुक्षुः, न, च, इतरः, निश्चित्य, कल्पितम्, पश्यन्, ब्रह्म, एव, आस्ते, महाशयः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
महाशयः	ज्ञानी
असमाधे	समाधि रहित होने से
मुमुक्षुः न	मुमुक्षु नहीं है
च	और
अविक्षेपात्	द्वैत भ्रम के अभाव से
इतरः न	बद्ध नहीं है
परन्तु	परन्तु
निश्चित्य	निश्चिय करके
इदम् सर्वम्	इस सब जगत् को
कल्पितम्	कल्पित
पश्यन्	समझता हुआ
ब्रह्म एव	ब्रह्मवत्
आस्ते	स्थित रहता है ॥

भावार्थ।

ज्ञानी मुमुक्षु नहीं होता है, क्योंकि विक्षेप की निवृत्ति के लिये मुमुक्षु समाधि को करता है। ज्ञानी में विक्षेप है नहीं, इसीलिए वह समाधि को नहीं करता है। उसमें बन्ध भी नहीं है, क्योंकि

द्वैतभ्रम उसका नष्ट हो गया है। जिसको द्वैतभ्रम होता है उसी को बंध भी होता है।

प्रश्न—फिर वह ज्ञानी कैसा है ?

उत्तर—वह ब्रह्मरूप है, क्योंकि संपूर्ण जगत् उसको पूर्व ही से कल्पित प्रतीत होता है, पश्चात् वह बाधितानुवृत्ति से जगत् को देखता है, इसी कारण वह निर्विकार चित्तवाला ही होता है ॥२८॥

मूलम्।

यस्यान्तः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।
निरहंकारधीरेण न किञ्चिदकृतं कृतम् ॥ २९ ॥

पदच्छेदः।

यस्य, अन्तः, स्यात्, अहंकारः, न, करोति, करोति, सः, निरहंकारधीरेण, न, किञ्चित्, अकृतम्, कृतम् ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
यस्य=	जिसके
अन्तः=	अन्तःकरण में
अहंकारः=	अहंकार का अध्यास
स्यात्=	है
सः=	वह
+यद्यपि लोकदृष्ट्या=	यद्यपि लोक-दृष्टि से
न करोति=	कर्म नहीं करता है
तु अपि=	तो भी
करोति=	मन में सङ्कल्पादि कर्म करता है

अन्वयः।	शब्दार्थ।
निरहंकारधीरेण=	अहंकार-रहित ज्ञानी से
यद्यपि-लोक-दृष्ट्या=	यद्यपि लोक-दृष्टि से
न किञ्चित्=	कुछ भी नहीं
कृतम्=	किया गया है
तथापि=	तथापि
स्वदृष्ट्या=	अपनी दृष्टि से
तत्=	वह
कृतम्=	किया गया है ॥

भावार्थ ।

प्रश्न—संसार को देखता हुआ भी वह कैसे ब्रह्म-रूप हो सकता है ?

उत्तर—जिस पुरुष के अंतःकरण में अहंकार का अध्यास होता है, लोक-दृष्टि से न करता हुआ भी संकल्पादिकों को करता है ।

जैसे जब कोई जटा रखाकर, धूनी लगाकर, मौन होकर बैठा जाता है, तब लोग कहते हैं कि बाबाजी कुछ नहीं करते हैं। पर वह भीतर मन में संकल्प करता है कि कोई बड़ा आदमी आवे, तो भाँग-बूटी का काम चले; इस तरह से ज्ञानी का व्यवहार नहीं होता है। उसको भीतर से ही संकल्प-विकल्प नहीं फुरते हैं। इसी वास्ते वह कर्तृत्वादि अध्यास से रहित है ॥ २९ ॥

मूलम् ।

नोद्विग्नं न च संतुष्टमकर्तृस्पन्दवर्जितम् ।
निराशं गतसंदेहं चित्तं मुक्तस्य राजते ॥ ३० ॥

पदच्छेदः ।

न, उद्विग्नम्, न, च, संतुष्टम्, अकर्तृस्पन्दवर्जितम् निराशम्, गतसंदेहम्, चित्तम्, मुक्तस्य, राजते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मुक्तस्य	ज्ञानी का	निराशम्	आशा-रहित
अकर्तृस्पन्दवर्जितम्	कर्तृत्व-रहित और संकल्पविकल्प-रहित	गतसंदेहम्	संदेह-रहित
		चित्तम्	चित्त

अन्वयः । शब्दार्थ ।

न उद्विग्नम्=न उद्विग्न है
च=और

अन्वयः । शब्दार्थ ।

न संतुष्टम्=न सन्तोष को
राजते=प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि जीवन्मुक्त का चित्त प्रकाश-रूप है, इसी वास्ते वह उद्वेग को नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि उद्वेग का हेतु जो द्वैत है, वह उसके चित्त में नहीं रहा है, और संकल्प-विकल्प से भी शून्य है, इसी वास्ते उसका चित्त जगत् से निराश है, और संदेह से भी रहित है। क्योंकि संदेह का हेतु जो अज्ञान है, वह उसमें नहीं रहा ॥ ३० ॥

मूलम् ।

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते ।
निर्निमित्तमिदं किन्तु निर्ध्यायति विचेष्टते ॥ ३१ ॥

पदच्छेदः ।

निर्ध्यातुम्, चेष्टितुम्, वा, अपि, यत्, चित्तम्, न, प्रवर्तते, निर्निमित्तम, इदम्, किन्तु, निर्ध्यायति, विचेष्टते ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

ज्ञानिनः=ज्ञानी का
यत्=जो
चित्तम्=चित्त है
तत्=वह
निर्ध्यातुम्=निष्क्रिय भाव में स्थित होने को

अन्वयः । शब्दार्थ ।

वा अपि=अथवा
चेष्टितुम्=चेष्टा करने को
न प्रवर्तते=नहीं प्रवृत्त होता है
किन्तु=परन्तु
इदम्=वह चित्त
निर्निमित्तम्=संकल्प-रहित

निर्ध्यायति-निश्चल स्थित होता है
च-और
विचेष्टते-नाना प्रकार की चेष्टा को करता है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि ज्ञानी का चित्त संकल्प-विकल्परूपी चेष्टा करने में प्रवृत्त नहीं होता है, किन्तु वह चित्त के निश्चल और शुद्ध होने से अपने स्वरूप में स्थिर होता है ॥ ३१ ॥

मूलम् ।

तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढताम् ।
अथवाऽऽयाति सङ्कोचममूढः कोऽपि मूढवत् ॥ ३२ ॥

पदच्छेदः ।

तत्त्वम्, यथार्थम्, आकर्ण्य, मन्दः, प्राप्नोति, मूढताम्, अथवा, आयाति, सङ्कोचम्, अमूढः, कः, अपि, मूढवत् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मन्दः	अज्ञानी	आयाति	प्राप्त होता है
यथार्थ तत्त्वम्	तत्त्व पदार्थ अर्थात् उपनिषदादिकों को	च	और
आकर्ण्य	सुन कर	तथा एव	वैसा ही
मूढताम्	मूढता अर्थात् संशय विपर्यय को	कः अपि	और कोई
प्राप्नोति	प्राप्त होता है	अमूढः	ज्ञानी
अथवा	अथवा	मूढवत्	अज्ञानी की तरह
सङ्कोचम्	चित्त की समाधि को	मूढताम्	संशय-विपर्यय अर्थात् व्यवहार को
		+बाह्यदृष्टया	बाह्य-दृष्टि से
		प्राप्नोति	प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

हे शिष्य ! मन्द पुरुष तत् और त्वं पद के कल्पित भेद को श्रुति से श्रवण करके भी संशय-विपर्यय के कारण मूढ़ता को ही प्राप्त होता है अथवा तत् और त्वं पद के अभेद अर्थ के जानने के लिए समाधि को लगाता है। परन्तु हजारों में कोई एक पुरुष अंतर से शान्त चित्तवाला होकर बाहर से मूढ़वत् व्यवहार करता है ॥ ३२ ॥

मूलम् ।

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम् ।
धीराःकृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः ॥ ३३ ॥

पदच्छेदः ।

एकाग्रता, निरोधः, वा, मूढैः, अभ्यस्यते, भृशम्, धीराः, कृत्यम्, न, पश्यन्ति, सुप्तवत्, स्वपदे, स्थिताः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
एकाग्रता	चित्त की एकाग्रता
वा	या
निरोधः	चित्त की निरोधता
मूढ	अज्ञानी
भृशम्	अत्यन्त
अभ्यस्यते	अभ्यास किया जाता है
धीराः	ज्ञानी पुरुष
कृत्यम्	पूर्व कृत्य को अर्थात् चित्त की एकाग्रता को और निरोधता को
न पश्यन्ति	नहीं देखते हैं
परन्तु	परन्तु
सुप्तवत्	सोए हुए पुरुष की तरह
स्वपदे	अपने स्वरूप में
स्थिताः	स्थित रहते हैं ॥

भावार्थ ।

मुमुक्षु जन चित्त की एकाग्रता के लिये और विपरीत याचना की निवृत्ति के लिये यत्न करते हैं। परन्तु जो धीर पुरुष है, वह कुछ भी पूर्वोक्त कृत्य को नहीं देखता है। क्योंकि वह अपने स्वरूप में ही स्थित है ॥ ३३ ॥

मूलम् ।

अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम् ।
तत्त्वनिश्चयमात्रेण, प्राज्ञो, भवति निर्वृतः ॥ ३४ ॥

पदच्छेदः ।

अप्रयत्नात्, प्रयत्नात्, वा, मूढः, न, आप्नोति, निर्वृतिम्, तत्त्वनिश्चयमात्रेण, प्राज्ञः, भवति, निर्वृतः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मूढः	अज्ञानी पुरुष
अप्रयत्नात्	चित्त के निरोध से
वा	अथवा
प्रयत्नात्	कर्मानुष्ठान से
निर्वृतिम्	परम सुख को
न आप्नोति	नहीं प्राप्त होता है
प्राज्ञः	ज्ञानी पुरुष
तत्त्व निश्चय-मात्रेण	केवल तत्त्व के निश्चय करने से ही
निर्वृतः	कृतार्थ
भवति	होता है ॥

भावार्थ ।

जिस पुरुष को जीव-ब्रह्म की एकता का निश्चय नहीं है, वही पुरुष मूर्ख कहा जाता है। वह पुरुष चाहे चित्त को निरोध-रूपी समाधि को करे अथवा कर्मों के अनुष्ठान को करे, वह कदापि

परम सुख को नहीं प्राप्त होता है । क्योंकि आनंद का हेतु जो आत्मा का अनुभव है, वह उसको है नहीं और जो विद्वान् ज्ञानी है, वह न समाधि को और न कर्मों को ही करता है परन्तु निर्वृति को अर्थात नित्यसुख को प्राप्त होता है । क्योंकि उसको कुछ कर्तव्य बाकी नहीं रहा । गीता में भी कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

आत्मा में ही जिसकी रति है और अपने आत्मानंद से ही जो तृप्त है, आत्मा में ही जो संतुष्ट है, बाहर के पदार्थों में जिसको तोष नहीं है, उसको कोई भी कर्तव्य बाकी नहीं रहा है ॥ ३४ ॥

मूलम् ।

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः ॥ ३५ ॥

पदच्छेदः ।

शुद्धम्, बुद्धम्, प्रियम्, पूर्णम्, निष्प्रपञ्चम्, निरामयम्, आत्मानम्, तम्, न, जानन्ति, तत्र, अभ्यासपराः, जनाः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
तत्र	इस संसार में	पूर्णम्	पूर्ण
अभ्यासपराः	अभ्यासी	निष्प्रपञ्चम्	प्रपञ्च-रहित
जनाः	मनुष्य	च	और
तम्	उस	निरामयम्	दुःख-रहित
शुद्धम्	शुद्ध	आत्मानम्	आत्मा को
बुद्धम्	चैतन्य	न जानन्ति	नहीं जानते हैं ॥
प्रियम्	प्रिय		

भावार्थ।

जगत् में कर्मादिकों के अभ्यासपरायण जो अज्ञानी पुरुष हैं, वे उस आत्मा को नहीं जानते हैं, जो शुद्ध है, अर्थात् जो माया-मल से रहित है, जो स्वप्रकाश है, जो परिपूर्ण है, जो प्रपञ्च से रहित है और जो दुःख के सम्बन्ध से भी रहित है ॥ ३५ ॥

मूलम् ।

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा ।
धान्यो विज्ञानमात्रेण, मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः ॥ ३६ ॥

पदच्छेदः ।

न, आप्नोति, कर्मणा, मोक्षम्, विमूढः, अभ्यासरूपिणा, धन्यः, विज्ञानमात्रण, मुक्तः, तिष्ठति, अविक्रियः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
विमूढः	अज्ञानी
अभ्यासरूपिणा	अभ्यासरूपी
कर्मणा	कर्म से
मोक्षम्	मोक्ष को
न आप्नोति	नहीं प्राप्त होता है
अविक्रियः	क्रिया-रहित
धन्यः	भाग्यवान्
पुरुषः	पुरुष
विज्ञानमात्रेण	केवल ज्ञान से ही
मुक्तः	मुक्त हुआ
तिष्ठति	स्थित रहता है अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! जो मूढ़ अज्ञानी जन हैं, वह कर्मों से अर्थात् योगाभ्यास-रूप कर्मों को करके भी मोक्ष को कदापि नहीं प्राप्त होते हैं ।

तथा च—न कर्मणा न प्रजया न धनेन ।

कर्मों से, प्रजा से, धन से, पुरुष मोक्ष को कदापि प्राप्त नहीं होता है, परन्तु जिसका अविद्या-मल दूर हो गया है, वह केवल विज्ञान-मात्र से मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ।। ३६ ।।

मूलम् ।

मूढो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति ।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक् ।। ३७ ।।

पदच्छेदः ।

मूढः, न, आप्नोति, तत्, ब्रह्म, यतः, भवितुम्, इच्छति, अनिच्छन्, अपि, धीरः, हि, परब्रह्मस्वरूपभाक् ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यतः	जिस कारण
मूढ	अज्ञानी
ब्रह्म	ब्रह्म
भवितुम्	होने की
इच्छति	इच्छा करता है
ततः	उसी कारण
सः	वह
तत्	उसको अर्थात् ब्रह्म को
न आप्नोति	नहीं प्राप्त होता है
धीरः	ज्ञानी
हि	निश्चय करके
अनिच्छन् अपि	नहीं चाहता हुआ भी
परब्रह्मस्वरूप-भाक्	परब्रह्म-स्वरूप का भजनेवाला
भवति	होता है ।।

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! अज्ञानी मूढ़ चित्त के निरोध करने से ब्रह्म-रूप होने की इच्छा करता है । इसी वास्ते

वह ब्रह्म को नहीं प्राप्त होता है और जिस धीर ने अपने को ज्ञानी निश्चय कर लिया है, वह मोक्ष की नहीं इच्छा करता हुआ भी मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

मूलम् ।

निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः ।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः ॥ ३८ ॥

पदच्छेदः ।

निराधाराः, ग्रहव्यग्राः, मूढाः, संसारपोषकाः, एतस्य, अनर्थ-मूलस्य, मूलच्छेदः, कृतः, बुधैः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निराधाराः=	आधार-रहित	अनर्थमूलस्य=	अनर्थ-रूप मूलवाले
ग्रहव्यग्राः=	दुराग्रही	संसारस्य=	संसार के
मूढाः=	अज्ञानी	मूलच्छेदः=	मूल का नाश
संसारपोषकाः=	संसार के पोषण करनेवाले हैं	बुधैः=	ज्ञानियों करके
एतस्य=	इस	कृतः=	किया गया है

भावार्थ ।

जो मूढ़ अज्ञानी है, उसका ऐसा ख्याल है कि मैं वेदान्त-शास्त्र और आत्मवित् गुरु के आधार के विना ही केवल चित्त के निरोध से ही मोक्ष को प्राप्त हो जाऊँगा, ऐसा दुराग्रही पुरुष संसार से छुड़ानेवाला जो ज्ञान है, उससे पराङ्मुख होता है, इस संसार के मूलाज्ञान का वह छेदन नहीं कर सकता है ॥ ३८ ॥

मूलम्।

न शान्तिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति।
धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शान्तमानसः॥ ३९॥

पदच्छेदः।

न, शान्तिम्, लभते, मूढः, यतः, शमितुम, इच्छति, धीरः, तत्त्वम्, विनिश्चित्य, सर्वदा, शान्तमानसः॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
यतः	जिस कारण	न लभते	नहीं प्राप्त होता है
शमितुम्	शान्त होने की	धीरः	ज्ञानी
मूढः	अज्ञानी	तत्त्वम्	तत्त्व को
इच्छति	इच्छा करता है	विनिश्चित्य	निश्चय करके
ततः	इसी कारण	सर्वदा	सर्वदा
सः	वह	शान्तमानसः	शान्त मनवाला है॥
शान्तिम्	शान्ति को		

भावार्थ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! मूढ़ अज्ञानी जिस हेतु चित्त के निरोध से शान्ति की इच्छा करता है, इसी वास्ते वह शान्ति को नहीं प्राप्त होता है। धीर जो है वह आत्मतत्त्व को निश्चय करके शान्ति की इच्छा नहीं करता है, इसीलिये शान्ति को प्राप्त होता है।

मूलम्।

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलम्बते।
धीरास्तं तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम्॥ ४०॥

पदच्छेदः ।

क्व, आत्मनः, दर्शनम्, तस्य, यत्, दृष्टम्, अवलम्बते, धीराः, तम्, तम्, न, पश्यन्ति, पश्यन्ति, आत्मानम्, अव्ययम् ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
तस्य	उसको
आत्मनः	आत्मा का
दर्शनम्	दर्शन
क्व	कहाँ है
यत्	जो
दृष्टम्	दृष्ट को
अवलम्बते	अवलम्बन करता है
धीराः	ज्ञानी
तम् तम्	उस-उस
दृष्टम्	दृष्ट को
न पश्यन्ति	नहीं देखते हैं
परन्तु	परन्तु
अव्ययम्	अविनाशी
आत्मानम्	आत्मा को
पश्यन्ति	देखते हैं ।।

भावार्थ ।

जो अज्ञानी पुरुष है, वह प्रत्यक्ष प्रमाणों से ही जाने हुए पदार्थों को सत्य-रूप से मानता है, इसी कारण उसको आत्म-दर्शन कदापि नहीं प्राप्त होता है। और जो ज्ञानी है, वह देखते हुए पदार्थों को नहीं देखता है। किन्तु उनके अन्तर्गत कारण-शक्ति सर्वत्र चिद्रूप आत्मा को ही देखता है, इसी कारण वह आत्मा में सदा लीन रहता है, और कार्य-रूपी बाह्य पदार्थ उसको कोई भी दिखाई नहीं देता है ।। ४० ।।

मूलम् ।

क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बन्धं करोति वै ।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः ।। ४१ ।।

पदच्छेदः ।

क्व, निरोधः, विमूढस्य, यः, निर्बन्धम्, करोति, वै, स्वारामस्य, एव, धीरस्य, सर्वदा, असौ, अकृत्रिमः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यः	जो	स्वारामस्य	आत्माराम
निर्बन्धम्	चित्त के निरोध को	धीरस्य	ज्ञानी को
वै	निश्चय रूपेण	सर्वदा	सदैव
करोति	करता है	एव	निश्चय करके
तस्य	उस	असौ	यह
विमूढस्य	अज्ञानी को	चित्तनिरोधः	चित्त का निरोध
क्व	कहाँ	अकृत्रिमः	स्वाभाविक है ॥
निरोधः	चित्त का निरोध है ॥		

भावार्थ ।

जो अज्ञानी पुरुष शुष्कचित्त के निरोध में हठ करता है, उसका चित्त कभी निरोध को नहीं प्राप्त होता है। अज्ञानी ही चित्त के निरोध के लिए समाधि लगाता है। जब वह समाधि से उत्थान करता है, तब फिर उसका चित्त संसार के पदार्थों में फैल जाता है और जो आत्मा में स्मरण करनेवाला योगी है, जिसका चित्त निश्चल है, उसका चित्त सर्वदा आत्मा में ही निरुद्ध रहता है, इसी कारण सर्वदा उसकी समाधि बनी रहती है ॥ ४१ ॥

मूलम् ।

भावस्य भावकः कश्चिन्न किञ्चिद्भावकोऽपरः ।
उभयाऽभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः ॥ ४२ ॥

पदच्छेदः ।

भावस्य, भावकः, कश्चित्, न, किञ्चित्, भावकः, अपरः, उभयाऽभावकः, कश्चित्, एवम्, एव, निराकुलः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
कश्चित्	कोई	भावकः	माननेवाला
भावस्य	भाव का	एवम् एव	वैसा ही
भावकः	माननेवाला है	किञ्चित्	कोई
अपरः	और कोई	उभयाऽभावकः	दोनों अर्थात् भाव और अभाव का नहीं माननेवाला
किञ्चित्	कुछ भी	निराकुलः	स्वस्थ चित्त है ॥
न	नहीं है		
एवम्	ऐसा		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे राजन् ! कोई एक नैयायिक ऐसा मानता है कि भाव-रूप प्रपञ्च परमार्थ से सत्य है। और कोई शून्यवादी कहता है कि सब प्रपञ्च शून्य-रूप है, क्योंकि शून्य ही से उसकी उत्पत्ति होती है और हजारों में से कोई एक आत्मा का अनुभव करनेवाला होता है। वह भाव और अभाव दोनों की भावना का त्याग करके और स्वस्थचित्त होकर अपने आत्मानन्द में ही सदा मग्न रहता है ॥ ४२ ॥

मूलम् ।

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः ।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः ॥ ४३ ॥

पदच्छेदः ।

शुद्धम्, अद्वयम्, आत्मानम्, भावयन्ति, कुबुद्धयः, न, तु, जानन्ति, संमोहात, यावज्जीवम्, अनिर्वृताः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
कुबुद्धयः	दुर्बुद्धि पुरुष	संमोहात्	अज्ञानता के कारण
शुद्धम्	शुद्ध	न जानन्ति	नहीं जानते हैं
अद्वैयम्	अद्वैत	अतः	इसलिये
आत्मानम्	आत्मा की	यावज्जीवम्	जब तक उनका जीवन है
भावयन्ति	भावना करते हैं	अनिर्वृताः	संतोष-रहित है ॥
तु	परन्तु		

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! अज्ञानी मूढ़ शुद्ध निर्मल द्वैत से रहित व्यापक आत्मा का अनुभव नहीं करते हैं, क्योंकि उनका मोह सांसारिक पदार्थों से निवृत्त नहीं हुआ है। इसी कारण उनको आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता है। जब तक वे जीते हैं, संतोष को कदापि नहीं प्राप्त होते हैं। आत्मा के साक्षात्कार होने के बिना सन्तोष की प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥ ४३ ॥

मूलम् ।

मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते ।
निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥ ४४ ॥

पदच्छेदः ।

मुमुक्षोः, बुद्धिः, आलम्बम्, अन्तरेण, न, विद्यते, निरालम्बा, एव, निष्कामा, बुद्धिः, मुक्तस्य, सर्वदा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मुमुक्षोः	मुमुक्षु पुरुष की	सर्वदा	सब काल में
बुद्धिः	बुद्धि	निष्कामा	कामना-रहित
आलम्बम् अन्तरेण	आलम्ब के विना	च	और
न विद्यते	नहीं रहती है	निरालम्बा	आश्रय-रहित
मुक्तस्य	मुक्त पुरुष को	एव	निश्चय करके
बुद्धिः	बुद्धि	विद्यते	रहती है ॥

भावार्थ ।

जिसको आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ है, उसकी बुद्धि सांसारिक विषय का आलम्बन करती है और जो निष्काम जीवन्मुक्त है, उसकी बुद्धि आत्मा के आश्रय रहती है । आत्मा के अचल होने से वह बुद्धि भी सदैव स्थिर रहती है ॥ ४४ ॥

मूलम् ।

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः ।
विशन्ति झटिति क्रोडन्निरोधैकाग्रयसिद्धये ॥ ४५ ॥

पदच्छेदः ।

विषयद्वीपिनः, वीक्ष्य, चकिताः, शरणार्थिनः, विशन्ति, झटिति, क्रोडम्, निरोधैकाग्रयसिद्धये ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
विषयद्वीपिनः	विषय-रूपी व्याघ्र को	शरणार्थिनः	अपने शरीर की रक्षा करने वाले मूढ़ पुरुष
वीक्ष्य	देख करके		
चकिताः	डरे हुए		

निरोधै-काग्र्य-सिद्धये { चित्त की निरोधता और एकाग्रता की सिद्धि के लिये	झटिति=शीघ्र
	क्रोडम्=पहाड़ की गुहा में
	विशन्ति=प्रवेश करते हैं ॥

भावार्थ ।

मूढ़ मुमुक्षु विषय-रूपी व्याघ्रों को देख करके भय को प्राप्त होता है और चित्त की वृत्ति एकाग्र करने के लिये पहाड़ी कन्दरा में प्रवेश कर जाता है, परन्तु उसका कार्य सिद्ध नहीं होता है, उसकी अन्तर्वृत्ति फैलती जाती है और वह हर दिन दुःखी होता जाता है, शान्ति उसको लेश-मात्र भी नहीं होती है और जो ज्ञानी जीवन्मुक्त है, वह विषय-रूपी व्याघ्रों को इन्द्र-जाल-जन्य पदार्थों की तरह देखकर उनसे भय नहीं खाता है ॥ ४५ ॥

मूलम् ।

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः ।
पलायन्ते न शक्तास्ते, सेवन्ते कृतचाटवः ॥ ४६ ॥

पदच्छेदः ।

निर्वासनम्, हरिम्, दृष्टवा, तूष्णीम्, विषयदन्तिनः, पलायन्ते, न, शक्ताः, ते, कृतचाटवः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निर्वासनम्	वासना-रहित	न शक्ताः	असमर्थ
पुरुषम्	पुरुष-रूपी	विषयदन्तिनः	विषय-रूपी हाथी
हरिम्	सिंह को	तूष्णीम्	चुपचाप
दृष्ट्वा	देखकर	पलायन्ते	भागते हैं ॥

च=और
ते=वे
कृतचाटवः={प्रियवादी अर्थात् संसारी पुरुष
ईश्वराकृष्टाः={ईश्वर से प्रेरित हुए
तम् निर्वासनम् पुरुषम्={उस वासना-रहित पुरुष को
स्वयम्=स्वतः
आगत्य=आकर
सेवन्ते=सेवन करते हैं ॥

भावार्थ।

क्योंकि वासना-रहित पुरुष-रूपी सिंह को देखकर, विषय-रूपी हस्ती असमर्थ होकर भाग जाता है और ऐसे ही नरसिंह की प्रतिष्ठा और सेवा इतर पुरुष ईश्वर से प्रेरित हुए करते हैं ॥ ४६ ॥

मूलम्।

न मुक्तिकारिकांधत्ते निःशङ्को युक्तमानसः।
पश्यञ्च्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥ ४७ ॥

पदच्छेदः।

न, मुक्तिकारिकाम् धत्ते, निःशङ्कः, युक्तमानसः, पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, आस्ते, यथासुखम् ॥

अन्वयः। शब्दार्थ।

निःशङ्क=शङ्का रहित
च=और
युक्तमानसः=निश्चल मनवाला
ज्ञानी=ज्ञानी
मुक्तिकारिकाम्={यमनियमादि योग-क्रिया को
आग्रहात्=आग्रह से
न धत्ते=नहीं धारण करता है
किन्तु=परन्तु
पश्यन्=देखता हुआ
शृण्वन्=सुनता हुआ

स्पृशन्-स्पर्श करता हुआ
जिघ्रन्-सूँघता हुआ
अश्नन्-खाता हुआ

सः-वह
यथासुखम्-सुखपूर्वक
आस्ते-रहता है

भावार्थ।

दूर हो गए हैं संशय जिसके, निश्चल है मन जिसका, ऐसा जो जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष है वह यम-नियमादि क्रिया को भी हठ से नहीं करता है, क्योंकि उसको कर्तृत्व का ध्यान नहीं है। वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ अर्थात् लोकदृष्टि से सर्वक्रिया को करता हुआ, अपने आत्मानन्द में ही स्थिर रहता है॥ ४७॥

मूलम्।

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति॥ ४८॥

पदच्छेदः।

वस्तुश्रवणमात्रेण, शुद्ध बुद्धिः, निराकुलः, न, एव, आचारम्, अनाचारम्, औदास्यम्, वा, प्रपश्यति॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
वस्तुश्रवणमात्रेण	यथार्थ वस्तु के श्रवण-मात्र से ही
शुद्धबुद्धिः	शुद्ध बुद्धिवाला
च	और
निराकुलः	स्वस्थ चित्तवाला पुरुष
न एव	न
आचारम्	आचार को
वा	और न
औदास्यम्	उदासीनता को
प्रपश्यति	देखता है॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि चिदात्मा के श्रवण-मात्र से ही जिसकी शुद्ध अखण्डाकार बुद्धि उत्पन्न हुई है, वही अपने आत्मा के स्वरूप में स्थित है। वह न आचार को, न अनाचार को अर्थात् न शुभ, न अशुभ कर्म को, न उनसे रहित होने की इच्छा को करता है। क्योंकि वह सदा अपने मन में मग्न रहता है ॥४८॥

मूलम् ।

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः ।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत् ॥ ४९ ॥

पदच्छेदः ।

यदा, यत्, कर्तुम, आयाति, तदा, तत्, कुरुते, ऋजुः, शुभम्, वा, अपि, अशुभम्, वा, अपि, तस्य, चेष्टा, हि, बालवत् ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यदा	जब	धीरः	ज्ञानी
यत्	जो कुछ	ऋजुः	आग्रह-रहित
शुभम्	शुभ	कुरुते	करता है
वा अपि	अथवा	हि	क्योंकि
अशुभम्	अशुभ	तस्य	उसका
कर्तुम्	करने को	चेष्टा	व्यवहार
आयाति	प्राप्त होता है	बालवत्	बालवत्
तदा	तब	भवति	प्रतीत होता है ॥
तत्	उसको		

भावार्थ ।

जिस काल में वह ज्ञानी शुभ कर्म को अथवा अशुभ कर्म को करता है, वह प्रारब्ध के वश से, दैवगति से अकस्मात् करता है। शोभन, अशोभन बुद्धि से वा हठ करके नहीं करता है। क्योंकि उसकी चेष्टा बालक की तरह प्रारब्ध के अधीन होती है, राग-द्वेष के अधीन नहीं होती है ॥ ४९ ॥

मूलम् ।

स्वातन्त्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम् ।
स्वातन्त्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातन्त्र्यात्परमं पदम् ॥ ५० ॥

पदच्छेदः ।

स्वातन्त्र्यात्, सुखम्, आप्नोति, स्वातन्त्र्यात्, लभते, परम्, स्वातन्त्र्यात्, निर्वृतिम्, गच्छेत्, स्वातन्त्र्यात्, परमम्, पदम् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
स्वातन्त्र्यात्	स्वतन्त्रता से
सुखम्	सुख को
ज्ञानी	ज्ञानी
आप्नोति	प्राप्त होता है
स्वातन्त्र्यात्	स्वतन्त्रता से
परम्	ज्ञान को
लभते	प्राप्त होता है

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
स्वातन्त्र्यात्	स्वतन्त्रता से
निर्वृतिम्	नित्य सुख को
गच्छेत्	प्राप्त होता है
स्वातन्त्र्यात्	स्वतन्त्रता से
परमं पदम्	परमपद को अर्थात् अपने स्वरूप को
आप्नोति	प्राप्त होता है ॥

भावार्थ।

स्वतन्त्रता से अर्थात् राग-द्वेष की अधीनता से रहित पुरुष सुख को प्राप्त होता है और उसी स्वतन्त्रता से पुरुष आत्म-ज्ञान को भी प्राप्त होता है, और स्वतन्त्रता से ही पुरुष नित्य सुख को भी प्राप्त होता है, और स्वतन्त्रता करके ही पुरुष परम शान्ति को भी प्राप्त होता है ॥ ५० ॥

मूलम्।

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः ॥ ५१ ॥

पदच्छेदः।

अकर्तृत्वम्, अभोक्तृत्वम्, स्वात्मनः, मन्यते, यदा, तदा, क्षीणाः, भवन्ति, एव, समस्ताः, चित्तवृत्तयः ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
यदा	जब	तदा	तब
+पुरुषः	पुरुष	+तस्य	उसकी
स्वात्मनः	अपने आत्मा के	समस्ताः	सम्पूर्ण
अकर्तृत्वम्	अकर्तापने को	चित्तवृत्तयः	चित्त की वृत्तियाँ
अभोक्तृत्वम्	अभोक्तापने को	एव	निश्चय करके
मन्यते	मानता है	क्षीणाः	नाश
		भवन्ति	होती हैं ॥

भावार्थ ।

जिस काल में विद्वान् अपने को अकर्त्ता और अभोक्ता मानता है, उसी काल में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं अर्थात् जब वह ऐसा निश्चय करता है कि इस कर्म को मैं करूँगा, और उसका फल मुझे प्राप्त होगा, तब उसके चित्त की अनेक वृत्तियाँ उदित होती हैं, और वह दुःखी होता है। परन्तु जब अपने को अकर्त्ता, अभोक्ता निश्चय करता है, तब उसके चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, और वह शान्ति को प्राप्त होता है।

प्रश्न—केवल अकर्ता, अभोक्ता निश्चय करने से ही यदि चित्त की वृत्तियों का अभाव हो जावे और वह जीवन्मुक्त हो जावे, तो बद्धज्ञानियों के चित्त की वृत्तियों का अभाव होना चाहिए और उनको भी जीवन्मुक्त कहना चाहिए, पर ऐसा नहीं देखते हैं। क्योंकि बद्धज्ञानियों के चित्त की वृत्तियाँ विषयों में लगी रहती हैं, और उनको लोग जीवन्मुक्त भी नहीं कहते हैं। इसी से सिद्ध होता है कि केवल अकर्त्ता, अभोक्ता मान लेने से ही वृत्तियों का निरोध नहीं होता है।

उत्तर—उन बद्धज्ञानियों का जो कथन है कि हम अकर्त्ता हैं, हम अभोक्ता हैं, वह सब मिथ्या है। क्योंकि उनका अभ्यास बना है, उनकी विषयाकार वृत्तियाँ उदय होती हैं, और न

उनका निश्चय ही परिपक्व है। यदि निश्चय परिपक्व होता, तो कदापि उनकी वृत्तियाँ विषयाकार उत्पन्न न होतीं।

दृष्टान्त।

जैसे हिन्दू-धर्म के लिए गोमांस अति निषिद्ध है, अतः किसी हिन्दू का मन गोमांस की तरफ स्वप्न में नहीं जाता है, वैसे ही जिस विद्वान् ज्ञानी का यह परिपक्व निश्चय है कि मैं अकर्त्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, उसका मन कभी स्वप्न में भी विषयों की तरफ नहीं जाता है, और उसकी विषयाकार वृत्ति कदापि नहीं उदय होती है, और जिसका निश्चय परिपक्व नहीं है अर्थात् जो बद्धज्ञानी है, वह लोगों को सुनाता है कि मैं अकर्त्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, परन्तु भीतर से उसकी विषयों की तरफ बिलार की तरह दृष्टि रहती है। जैसे बिलार तब तक आँखों को मूँदे रहती है, जब तक मूसे को नहीं देखती है। जब मूसे को देखती है, तुरन्त झपटकर खा जाती है, वैसे ही बद्धज्ञानी भी तब तक ही अकर्त्ता, अभोक्ता बना रहता है, जब तक विषय-रूपी मूस उनको नहीं दीखता है। जब विषय-रूपी मूस उसके सामने आता है, तुरंत ही वह कर्त्ता और भोक्ता होकर उसको खा जाता है।

एक निर्मल संत पंजाब देश के किसी ग्राम में एक युवती स्त्री को 'विचार-सागर' पढ़ाते थे। पढ़ाते-पढ़ाते उस पर उनका मन चलायमान हो गया। तब उसकी जाँघों पर हाथ फेरने लगें। उस स्त्री ने कहा कि महाराज अभी तो आपने मुझे

पढ़ाया है कि भोगों को विष के तुल्य जानकर त्याग करना चाहिए और आप ही अब मेरी जाँघों पर हाथ फेरते हैं, यह क्या बात है । तब उन महात्मा ने कहा कि हम तुम्हारी परीक्षा करते हैं । तुमने समग्र 'विचार-सागर' पढ़ लिया, परंतु तुम्हारा देहाध्यास नहीं छूटा । अब देखिये, महात्माजी तो स्वयं अपना देहाध्यास दूर नहीं कर सके और विषय-लोलुप होकर पर-स्त्री की जाँघों पर हाथ फेरने लगे, परंतु दूसरे का देहाध्यास छुड़ाने को तैयार थे । ऐसे बद्धज्ञानियों के चित्त में कदापि शान्ति नहीं होती है । अन्य दृष्टान्त को भी सुनिए—

पूर्व देश में एक पण्डित किसी मन्दिर में 'योगवाशिष्ठ' की कथा कहते थे । उनकी कथा में माई लोग भी बहुत आती थीं और गन्धर्व जाति की एक वेश्या भी उनकी कथा में आती थी और माई लोगों में बैठती थी ।

एक दिन कथा में स्त्री के संग का बहुत निषध आया और पर-स्त्री के संग का बहुत ही दोष निकला । उस दिन कथा कहते-कहते जब पण्डितजी की दृष्टि उस वेश्या के ऊपर पड़ी, तब पण्डितजी का मन उस वेश्या में आसक्त हो गया । जब कथा समाप्त हुई, तब सब कोई अपने-अपने घर को चले गए, तो वह वेश्या भी अपने मकान को चली गई, और जाकर उसने विचार किया कि आज से फिर मैं इस व्यभिचार कर्म को नहीं करूँगी । ऐसा निश्चय करके उसने अपना फाटक संध्या से ही बंद करा दिया और भीतर बैठकर भजन करने लगी । इधर तो यह हाल हुआ और इधर जब पण्डितजी कथा बाँचकर अपने घर गए,

तब रात्रि आने का विचार करने लगें, इतने में रात्रि हो गई। जब एक पहर रात्रि व्यतीत हुई, तब पण्डितजी शिर पर कपड़ा डाले हुए उस वेश्या के मकान के नीचे पहुँचे और जाकर किवाड़ को हिलाया। तब नौकर ने वेश्या से कहा कि पण्डितजी आए हैं। वेश्या ने तुरंत किवाड़ खोल दिया। पण्डितजी ऊपर गए, तो वेश्या ने उनको पलँग पर बैठाया और आप नीचे बैठी, तब पण्डितजी ने कहा कि हे प्यारी! तू मेरे पास बैठ, हम तो आज तुम्हारे साथ आनन्द करने आए हैं। वेश्या ने कहा कि महाराज! आपने ही तो आज कथा में विषय-भोग की बड़ी निन्दा सुनाई और फिर आप ही ने यह भी कहा था कि जो पुरुष पर-स्त्री के साथ भोग करता है, उसको यमदूत अग्नि से तपे हुए खम्भों के साथ बाँधते हैं और स्त्री को भी अग्नि से तपे हुए खम्भों के साथ लगाते हैं। तब फिर मैं कैसे आपके साथ क्रीड़ा करूँ। तब पण्डितजी ने कहा कि जब कृष्णजी ने अवतार लिया था, तब उन्होंने उन सब खम्भों को उखाड़कर समुद्र में डाल दिया था। अब वे खम्भे नहीं रह गये हैं वे तो पूर्व युगों की वार्त्ताएँ थीं, इस युग की नहीं हैं, तू अपने को अकर्त्ता मानकर, आकर आनन्द ले। ऐसे बद्धज्ञानियों के चित्त कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं होते हैं। धर्मशास्त्र में भी कहा है—

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः।
सर्वे ते व्यसिनो मूर्खाय: क्रियावान् स पण्डितः॥

जितने शास्त्र के पढ़ने वाले हैं, और जितने शास्त्र के पढ़ाने वाले हैं, और जो केवल शास्त्र का विचार ही करते हैं, वे सब व्यसनी और मूर्ख हैं। जो उनमें वैराग्यादि साधन सम्पत्ति करके युक्त हैं, वे ही पण्डित हैं। दूसरे शास्त्र-दृष्टि से पण्डित नहीं हैं। पूर्वोक्त युक्तियों से यह सिद्ध हुआ कि जो अध्यासी पुरुष हैं, वही बद्धज्ञानी हैं। केवल अकर्ता, अभोक्ता कहने से वह अकर्त्ता, अभोक्ता कदापि नहीं हो सकता है ॥ ५१ ॥

मूलम्।

उच्छृङ्खलाप्याकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते।
न तु संस्पृहचित्तस्य शान्तिर्मूढस्य कृत्रिमा ॥ ५१ ॥

पदच्छेदः।

उच्छृङ्खला, अपि, आकृतिका, स्थितिः, धीरस्य, राजते, न, तु, संस्पृहचित्तस्य, शान्तिः, मूढस्य, कृत्रिमा ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
धीरस्य	ज्ञानी की	स्थितिः	स्थिति
उच्छृङ्खला	शान्ति-रहित	अपि	भी
आकृतिका	स्वाभाविक	राजते	शोभती है

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
तु	परन्तु	कृत्रिमा	बनावटवाली
संस्पृहचित्तस्य	इच्छा-सहित चित्तवाले	शान्तिः	शान्ति
मूढस्य	अज्ञानी की	न राजते	नहीं शोभती है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! जो पुरुष निःस्पृह है, उसकी भी स्वाभाविक स्थिति शोभा से युक्त ही होती है । क्योंकि उसमें कोई बनावट नहीं होती है । और जो मूढ़ इच्छा से व्याकुल हैं, उसकी बनावट की शान्ति भी शोभायमान नहीं होती है ॥ ५३ ॥

मूलम् ।

विलसन्ति महाभोगैर्विशन्ति गिरिगह्वरान् ।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः ॥ ५३ ॥

पदच्छेदः ।

विलसन्ति, महाभोगैः, विशन्ति, गिरिगह्वरान्, निरस्त-कल्पनाः, धीराः, अबद्धाः, मुक्तबुद्धयः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निरस्तकल्पनाः	कल्पना-रहित	विलसन्ति	क्रीड़ा करते हैं
अबद्धाः	बन्धन-रहित	+च	और
मुक्तबुद्धयः	मुक्त बुद्धिवाले	+कदाचित्	कभी
धीराः	ज्ञानी	गिरिगह्वरान्	पहाड़ की कन्दराओं में
+कदाचित् +प्रारब्धवशात्	कभी प्रारब्ध-वश से	विशन्ति	प्रवेश करते हैं ॥
महाभोगैः	बड़े बड़े भोगों के साथ		

भावार्थ ।

जिस ज्ञानी धीर के चित्त की सब कल्पनाएँ नष्ट हो गई हैं, वह प्रारब्ध के वश कभी भोगों में क्रीड़ा करता है, कभी प्रारब्धवश पर्वत और वनों में फिरा करता है, पर उसका चित्त सदा शान्त रहता है। क्योंकि वह आसक्ति कर्त्तृत्वाध्यास से रहित बुद्धिवाला है ॥ ५३ ॥

मूलम् ।

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमङ्गनां भूपतिं प्रियम् ।
दृष्ट्वा संपूज्य धीरस्य न काऽपि हृदि वासना ॥ ५४ ॥

पदच्छेदः ।

श्रोत्रियम्, देवताम्, तीर्थम्, अङ्गनाम्, भूपतिम्, प्रियम्, दृष्ट्वा, संपूज्य, धीरस्य, न, का, अपि, हृदि, वासना ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
श्रोत्रियम्	पण्डित को	प्रियम्	पुत्रादि को
देवताम्	देवताओं को	दृष्ट्वा	देख करके
तीर्थम्	तीर्थ को	धीरस्य	ज्ञानी के
संपूज्य	पूजन करके	हृदि	हृदय में
+च	और	का अपि	कोई भी
अङ्गनाम्	स्त्री को	वासना	वासना
भूपतिम्	राजा को	न भवति	नहीं होती है ॥

भावार्थ ।

हे शिष्य ! जो श्रोत्रिय ब्रह्मवेत्ता हैं, उन में इन्द्र, अग्नि

आदि देवताओं, गंगा आदि तीर्थों के पूजा करने से कामना उत्पन्न नहीं होती हैं। क्योंकि वे निष्काम हैं और सुन्दर स्त्री-पुत्रादि के प्रति और राजा को देख करके भी उनके चित्त में कोई वासना खड़ी नहीं होती है। क्योंकि वे सर्वत्र समबुद्धि और समदर्शी है ॥ ५४ ॥

मूलम् ।

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः ।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक् ॥ ५५ ॥

पदच्छेदः ।

भृत्यैः, पुत्रैः, कलत्रैः, च, दौहित्रैः, च, अपि, गोत्रजैः, विहस्य, धिक्कृतः, योगी, न, याति, विकृतिम्, मनाक् ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
भृत्यैः	किंकरों से	धिक्कृतः	धिक्कार किया हुआ
पुत्रैः	पुत्रों से	योगी	ज्ञानी
दौहित्रैः	नातियों से	मनाक	किञ्चित भी
च	और	विकृतिम्	विकार को अर्थात् चित्त के मोक्ष को
गोत्रजैः	बान्धवों से	न याति	नहीं प्राप्त होता है ॥
अपि	भी		
विहस्य	हँस करके		

भावार्थ ।

हे शिष्य ! जो ज्ञानी जीवन्मुक्त हैं, उनका चित्त भृत्यों से अर्थात् नौकरों से, पुत्रों से, स्त्रियों से, कन्याओं से और स्वगोत्रियों से अर्थात् सम्बन्धियों से भी तिरस्कार किया हुआ क्षोभ को नहीं प्राप्त होता है। और उनसे सत्कार किया हुआ न हर्ष को

प्राप्त होता है । क्योंकि राग-द्वेष का हेतु जो मोह है, वह मोह उनमें नहीं है ।। ५५ ।।

मूलम् ।

संतुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते ।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानते ।। ५६ ।।

पदच्छेदः ।

सन्तुष्टः, अपि, न, संतुष्टः, खिन्नः, अपि, न, च, खिद्यते, तस्य, आश्चर्यदशाम्, ताम्, ताम्, तादृशाः, एव, जानते ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
+ज्ञानी	ज्ञानी पुरुष	अपि	भी
+लोकदृष्ट्या	लोक दृष्टि से	न खिद्यते	नहीं दुःख को प्राप्त होता है
संतुष्टः	सन्तोषवान् हुआ	तस्य	उसकी
अपि	भी	ताम्, ताम्	उस उस
न	नहीं	आश्चर्यदशाम्	आश्चर्य दशा को
संतुष्टः	संतुष्ट है	तादृशा एव	वैसे ही ज्ञानी
च	और	जानते	जानते हैं ।।
खिन्नः	खेद को पाया हुआ		

भावार्थ ।

हे शिष्य ! लोक-दृष्टि से खेद को प्राप्त हुआ भी वह खेद को नहीं प्राप्त होता है और लोक-दृष्टि से हर्ष को प्राप्त हुआ वह हर्ष को नहीं प्राप्त होता है । ऐसे विद्वान् की आश्चर्यवत् लीला को विद्वान् ही जानता है, दूसरा नहीं ।। ५६ ।।

मूलम् ।

कर्त्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः ।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः ॥ ५७ ॥

पदच्छेदः ।

कर्त्तव्यता, एव, संसारः, न, ताम्, पश्यन्ति, सूरयः, शून्याकाराः, निराकाराः, निर्विकाराः, निरामयाः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
कर्त्तव्यता	कर्त्तव्यता	निर्विकाराः	संकल्प-रहित
एव	ही	च	और
संसारः	संसार है	निरामयाः	दुःख-रहित
ताम्	उस कर्त्तव्यता को	सूरयः	ज्ञानी
शून्याकाराः	शून्यकार	न पश्यन्ति	नहीं देखते हैं ॥
निराकाराः	आकार-रहित		

भावार्थ ।

हे शिष्य ! "ममेदं कर्तव्यम्" मेरे को यह कर्तव्य है, ऐसे निश्चय का नाम ही संसार है । इसी कारण जीवन्मुक्त ज्ञानी उस कर्त्तव्यता को नहीं देखता है, और न उसका संकल्प करता है । क्योंकि वह संकल्प-मात्र से रहित है, वह शून्याकार है, और निराकारादि संकल्पों से भी रहित है, और बिकारों से भी रहित है, और जो आध्यात्मिकादि रोग हैं, उनसे भी रहित है ॥ ५७ ॥

मूलम् ।

अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः ।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः ॥ ५८ ॥

पदच्छेदः ।

अकुर्वन्, अपि, संक्षोभात्, व्यग्रः, सर्वत्र, मूढधीः, कुर्वन्, अपि, तु, कृत्यानि, कुशलः, हि, निराकुलः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मूढधीः	अज्ञानी	च	और
अकुर्वन्	कर्मों को नहीं करता हुआ	कुशलः	ज्ञानी
अपि	भी	च	और
सर्वत्र	सब जगह	कृत्यानि	कर्मों को
संक्षोभात्	संकल्प-विकल्प के कारण	कुर्वन्	करता हुआ
व्यग्रः	व्याकुल	अपि	भी
भवति	होता है	हि	निश्चय करके
		निराकुलः	निश्चय चित्तवाला
		भवति	होता है ॥

भावार्थ ।

हे शिष्य ! अज्ञानी शून्य मंदिरों में और बनादि पर्वतादि एकांत स्थानों में कर्मों को अर्थात् शरीर इन्द्रियादि के व्यापारों को न करता हुआ भी संकल्पों से व्यग्र चित्तवाला ही होता है, और विद्वान् सर्वत्र शरीर इन्द्रियादिकों के व्यापारों को लोक-दृष्टि से करता हुआ भी व्यग्र चित्तवाला नहीं होता है। क्योंकि वह निःसंकल्प है ॥ ५८ ॥

मूलम् ।

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च ।
सुखं वक्ति सुखं भुङ्क्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः ॥ ५९ ॥

पदच्छेदः ।

सुखम्, आस्ते, सुखम्, शेते, सुखम्, आयाति, याति, च, सुखम्, वक्ति, सुखम्, भुङ्क्ते, व्यवहारे, अपि, शान्तधीः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
व्यवहारे	व्यवहार में	च	और
अपि	भी	याति	जाता है
शान्तधीः	ज्ञानी	सुखम्	सुख-पूर्वक
सुखम्	सुख-पूर्वक	वक्ति	बोलता है
आस्ते	बैठता है	च	और
सुखम्	सुख-पूर्वक	सुखम्	सुख-पूर्वक
आयाति	आता है	भुङ्क्ते	भोजन करता है ॥

भावार्थ ।

जीवन्मुक्त ज्ञानी व्यवहार आदि में भी आत्मसुख से ही स्थित रहता है। बैठते-उठते, शयन करते, खाते-पीते संपूर्ण क्रियाओं को करते हुए भी विद्वान् शान्तचित्तवाला रहता है ॥

मूलम् ।

स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः ।
महाह्लद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते ॥ ६० ॥

पदच्छेदः ।

स्वभावात्, यस्य, न, एव, आर्तिः, लोकवत्, व्यवहारिणः, महाह्लदः, इव, अक्षोभ्यः, गतक्लेशः, सुशोभते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यस्य	जिस	न	नहीं
व्यवहारिणः	व्यवहार करनेवाले	एव	निश्चय करके
ज्ञानिनम्	ज्ञानी को	सः	यह
स्वभावात्	आत्मज्ञान के स्वभाव से	गतक्लेशः	क्लेश-रहित ज्ञानी
लोकवत्	लोक की तरह	महाह्रदइव	समुद्रवत्
		अक्षोभ्यः	क्षोभ-रहित
		सुशोभते	शोभायमान होता है ॥

भावार्थ ।

ज्ञानवान् व्यवहार को करता हुआ भी अज्ञानी पुरुषों की तरह खेद को नहीं प्राप्त होता है। वह महा ह्लद की तरह क्षोभ से रहित शोभा को प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

मूलम् ।

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी ॥ ६१ ॥

पदच्छेदः ।

निवृत्तिः, अपि, मूढस्य, प्रवृत्तिः, उपजायते, प्रवृत्तिः, अपि, धीरस्य, निवृत्तिफलदायिनी ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मूढस्य	मूढ़ की	च	और
निवृत्तिः	निवृत्ति	धीरस्य	ज्ञानी की
अपि	भी	प्रवृत्तिः	प्रवृत्ति
प्रवृत्तिः	प्रवृत्ति-रूप	अपि	भी
उपजायते	होती है	निवृत्तिफल-दायिनी	निवृत्ति के फल-को देनेवाली है ॥

भावार्थ ।

मूढ़ पुरुष के इन्द्रियों के व्यापारों की निवृत्ति तो लोक-
दृष्टि से अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु वह निवृत्ति प्रवृत्ति ही
है। क्योंकि उसके अहंकारादि निवृत्ति नहीं हुए हैं और ज्ञानवान्
की लोक-दृष्टि से इन्द्रियों की प्रवृत्त प्रतीत भी होती है, तो
भी वह निवृत्ति रूप ही है, और मुक्ति-रूपी फल को देनेवाली है।
क्योंकि उसमें अभिमान का अभाव है ॥ ६१ ॥

मूलम् ।

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते ।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता ॥ ६२ ॥

पदच्छेदः ।

परिग्रहेषु, वैराग्यम्, प्रायः, मूढस्य, दृश्यते, देहे, विगलिताशस्य, क्व, रागः, क्व, विरागता ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मूढस्य	अज्ञानी का	विगलिताशस्य	गलित हो गई है आशा जिस की ऐसे ज्ञानी को
वैराग्यम्	वैराग्य	क्व	कहाँ
प्रायः	विशेष करके	रागः	राग है
परिग्रहेषु	गृह आदि में	च	और
दृश्यते	देखा जाता है	क्व	कहाँ
परन्तु	परन्तु	विरागता	वैराग्य है ॥
देहे	देह में		

भावार्थ।

हे शिष्य ! देहाभिमानी मूढ़ पुरुष को देह के साथ सम्बन्ध-वाले जो धन, वेश्या आदि हैं, उनमें यदि किसी निमित्त से वैराग्य भी उत्पन्न हो जावे, तो भी वह वैराग्य शून्य है, परन्तु जिसका देहादि के साथ अभिमान नष्ट हो गया है, उसको देह-सम्बन्धी पुत्रादिकों में न राग है, और शत्रु-व्याघ्रादिकों में न विराग है। राग और विराग उसको होता है, जिसको अपने देह का अभिमान है ॥ ६२ ॥

मूलम्।

भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टिरूपिणी ॥ ६३ ॥

पदच्छेदः।

भावनाभावनासक्ता, दृष्टिः, मूढस्य, सर्वदा, भाव्य-भावनया, सा, तु, स्वस्थस्य, अदृष्टिरूपिणी ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
मूढस्य	अज्ञानी की
दृष्टिः	दृष्टि
सर्वदा	सर्वदा
भावनाभावना-सक्ता	भावना में या अभावना में लगी हुई है
तु	परन्तु
स्वस्थस्य	ज्ञानी की
सा	दृष्टि
भाव्यभावनया	दृष्टि की चिन्ता से युक्त हो करके
अपि	भी
अदृष्टिरूपिणी	दृश्य के दर्शन से रहित रूप वाली
भवति	होती है ॥

भावार्थ।

हे शिष्य ! मूढ़ पुरुष कहता है कि मैं भावना करता हूँ, मैं अभावना करता हूँ। इस प्रकार सर्वदा भावना-अभावना में ही आसक्त रहता है। क्योंकि उसको भावना-अभावना में अहंकार है। और जो अपने स्वरूप में निष्ठावाला है, उसकी दृष्टि भावना-अभावना से रहित होकर सर्वदा अपनी आत्मा में ही रहती है ॥ ६३ ॥

मूलम्।

सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः।
न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्मणि ॥ ६४ ॥

पदच्छेदः।

सर्वारम्भेषु, निष्कामः, यः, चरेत्, बालवत्, मुनिः, न, लेपः, तस्य, शुद्धस्य, क्रियमाणे, अपि, कर्मणि ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
यः	जो
मुनिः	ज्ञानी
बालवत्	बालकों की तरह
निष्कामः	कामना-रहित होकर
सर्वारम्भेषु	सब क्रियाओं में आरम्भ
चरेत्	करता है
तस्य	उस
शुद्धस्य	शुद्ध-स्वरूप को
क्रियमाणे कर्मणि अपि	किये हुए कर्म में भी
लेपः न भवति	लेप नहीं होता है ॥

भावार्थ।

जो विद्वान् बालक की तरह कामना से रहित होकर पहले जन्म के कर्मों के वश से अर्थात् प्रारब्ध-वश से सम्पूर्ण आरम्भों

में प्रवृत्त होता भी है, तो भी वह वास्तव में कुछ भी नहीं करता है। क्योंकि वह अहंकार-रूपी मल से रहित है और इसी कारण उसमें कर्तृत्व भाव नहीं है ॥ ६४ ॥

मूलम् ।

स एव धन्यः आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः ।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः ॥ ६५ ॥

पदच्छेदः ।

सः, एव, धन्यः, आत्मज्ञः, सर्वभावेषु, यः, समः, पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, निस्तर्षमानसः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सः एव	वही
आत्मज्ञः	आत्म-ज्ञानी
धन्यः	धन्य है
यः	जो
निस्तर्षमानसः	तृष्णा-रहित होकर
पश्यन्	देखता हुआ
शृण्वन्	सुनता हुआ
स्पृशन्	स्पर्श करता हुआ
जिघ्रन्	सूँघता हुआ
अश्नन्	खाता हुआ
सर्वभावेषु	सब भावों में
समः	एकरस है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! वही आत्मज्ञानी पुरुष धन्य है, जिसको सब प्राणियों में आत्मबुद्धि है । इसी कारण उसका चित्त तृष्णा से रहित है । वह सर्व पदार्थों को देखता हुआ, श्रवण करता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ भी कुछ नहीं करता है, किन्तु वह सर्वदा शान्त एक-रस है ॥ ६५ ॥

मूलम् ।

क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम् ।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा ॥ ६६ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, संसारः, क्व, च, आभासः, क्व, साध्यम्, क्व, च, साधनम्, आकाशस्य, इव, धीरस्य, निर्विकल्पस्य, सर्वदा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सर्वदा	सर्वदा
आकाशस्य इव	आकाशवत्
निर्विकल्पस्य	विकल्प-रहित
धीरस्य	ज्ञानी को
क्व	कहाँ
संसारः	संसार है
च	और
क्व	कहाँ
आभासः	उसका भान है
क्व	कहाँ
साध्यम्	साध्य अर्थात् स्वर्ग है
च	और
साधनम्	साधन अर्थात् यज्ञादि कर्म है ॥

भावार्थ ।

जो विद्वान् सर्वदा संकल्प-विकल्पों से रहित है, उसको प्रपञ्च कहाँ और उसकी दृष्टि में स्वर्गादि कहाँ । जब उसकी दृष्टि में स्वर्गादि ही नहीं, तब उनका साधनीभूत यागादि उसकी दृष्टि में कहाँ ? आत्मवित् जीवन्मुक्त की दृष्टि में जब कि सर्वत्र एक आत्मा ही व्यापक परिपूर्ण है, दूसरा कोई पदार्थ ही नहीं है, तब स्वर्ग-नरक और उनके साधन-भूत पुण्य-पापादि भी कहीं नहीं ॥ ६६ ॥

मूलम् ।

सः जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः ।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्त्तते ॥ ६७ ॥

पदच्छेदः ।

सः, जयति, अर्थसंन्यासी, पूर्णस्वरसविग्रहः, अकृत्रिमः, अनवच्छिन्ने, समाधिः, यस्य, वर्त्तते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सः	वही	यस्य	जिसकी
अर्थसंन्यासी	दृष्टा दृष्ट कर्म फल से रहित	अकृत्रिमः	स्वाभाविक
पूर्णस्वरसविग्रहः	पूर्णानन्द-स्वरूप वाला ज्ञानी	समाधिः	समाधि
जयति	जय को प्राप्त होता है	अनवच्छिन्ने	अपने पूर्ण स्वरूप में
		वर्त्तते	वर्तमान है ॥

भावार्थ ।

अष्टावक्रजी कहते हैं कि हे जनक ! जो विद्वान् दृष्ट-अदृष्ट अर्थात् इस लोक के और परलोक के फलों की कामना से रहित है, अर्थात् जो निष्काम है, वही परिपूर्ण स्वरूपवाला है । अर्थात् अपने स्वरूप में ही जिसकी समाधि सर्वदा बनी रहती है, वही विद्वान् है, वह सबसे श्रेष्ठ होकर संसार में फिरता है ॥ ६७ ॥

मूलम् ।

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः ।
भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी सदा सर्वत्र नीरसः ॥ ६८ ॥

पदच्छेदः ।

बहुना, अत्र, किम्, उक्तेन, ज्ञाततत्त्वः, महाशयः, भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी, सदा, सर्वत्र, नीरसः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अत्र	इसमें
बहुना	बहुत
उक्तेन	कहने से
किम्	क्या प्रयोजन है
ज्ञाततत्त्वः	तत्त्व जाननेवाला
भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी	भोग और मोक्ष की आकांक्षा का त्यागी
महाशयः	ज्ञानी
सदा	सदैव
सर्वत्र	सर्वत्र
नीरसः	रागद्वेष रहित है ॥

भावार्थ ।

हे जनक ! जो विद्वान् ज्ञाततत्त्व है, अर्थात् जिस विद्वान् ने आत्मतत्त्व को जान लिया है, उसी का नाम ज्ञाततत्त्व है । क्योंकि वह भोग और मोक्ष दोनों में निराकांक्षी है, आकांक्षा से रहित है । अर्थात् दोनों में राग द्वेष से रहित है ॥ ६८ ॥

मूलम् ।

महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम् ।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते ॥ ६९ ॥

पदच्छेदः ।

महदादि, जगत्, द्वैतम्, नाममात्रविजृम्भितम्, विहाय, शुद्धबोधस्य, किम्, कृत्यम्, अवशिष्यते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
महदादि	महत्तत्त्व आदि	विहाय	छोड़कर
द्वैतम् जगत्	द्वैत जगत्	शुद्धबोधस्य	शुद्ध-बुद्ध-स्वरूप वाले को
नाममात्र-विजृम्भितम्	नाम-मात्र भिन्न है	किम्	क्या
तत्र	उसमें	कृत्यम्	कर्तव्यता
कल्पनाम	कल्पना को	अवशिष्यते	अवशेष रहती है ॥

भावार्थ ।

हे जनक ! महदादिरूप जितना जगत् है, अर्थात् महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत और उनका कार्य-रूप जितना जगत् है, वह केवल नाम-मात्र करके ही फैला है, और आत्मा से भिन्न की नाईं प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में भिन्न नहीं है ।

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतेः ॥"

जितना कि नाम का विषय-विकार है, वह सब वाणी का कथन-मात्र ही है । मृत्तिका ही सत्य है ॥

इसी तरह जितना कि नाम का घटपटादि-रूप जगत् है, वह सब कल्पना-मात्र ही है, अधिष्ठान रूप ब्रह्म ही सत्य है ।

जिस विद्वान् ने सम्पूर्ण कल्पना का त्याग कर दिया है, जो केवल शुद्ध चैतन्य-स्वरूप में ही स्थित है, उसको कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहा है ॥ ६९ ॥

मूलम् ।

भ्रमभूतमिदं सर्वं किञ्चिन्नास्तीति निश्चयी ।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति ॥ ७० ॥

पदच्छेदः ।

भ्रमभूतम्, इदम्, सर्वम्, किञ्चित्, न, अस्ति, इति, निश्चयी, अलक्ष्यस्फुरणः, शुद्धः, स्वभावेन, एव, शाम्यति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
इदम्	यह	शुद्धः	शुद्ध
सर्वम्	सब	निश्चयी	निश्चय करनेवाला
भ्रमभूतम्	प्रपञ्च	स्वभावेन	स्वभाव से
किञ्चित्	कुछ	एव	हि
न अस्ति	नहीं है	शाम्यति	शान्ति को प्राप्त होता है ॥
इति	ऐसा		
अलक्ष्यस्फुरणः	चैतन्यात्मानुभवी		

भावार्थ ।

प्रश्न—अनर्थ की शान्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिए ?

उत्तर—अधिष्ठान के साक्षात्कार होने पर यह सम्पूर्ण जगत् भ्रम से ही कल्पित प्रतीत होता है। वास्तव में कुछ भी सत्य प्रतीत नहीं होता है। जिस पुरुष को ऐसा ज्ञान है, वह कुछ भी प्रयत्न नहीं करता है। क्योंकि वह स्वभाव से ही शान्तरूप है। शान्ति के लिये फिर उसको कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं रहता है ॥ ७० ॥

मूलम् ।

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः ।
क्व विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोऽपि वा ॥७१॥

पदच्छेदः ।

शुद्धस्फुरणरूपस्य, दृश्यभावम्, अपश्यतः, क्व, विधिः, क्व, च, वैराग्यम्, क्व, त्यागः, क्व, शमः, अपि, वा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
दृश्यभावम्	दृश्यभाव को	च	और
अपश्यतः	नहीं देखते हुए	क्व	कहाँ
शुद्धस्फुरण-रूपस्य	शुद्ध स्फुरण-रूप वाले को	त्यागः	त्याग है
क्व	कहाँ	वा अपि	अथवा
विधिः	कर्म की विधि है	क्व	कहाँ
		शमः	शम है ॥

भावार्थ ।

जो विद्वान् शुद्ध-स्वरूप, स्वप्रकाश, चिद्रूप, अपने आपको देखता है वह किसी और दृश्य पदार्थ को नहीं देखता है। उसको कर्म में राग कहाँ है ? और विधि कहाँ है ? और किस विषय में उसका वैराग्य है, और किसमें शम है ॥ ७१ ॥

मूलम् ।

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः ।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादता ॥ ७२ ॥

पदच्छेदः ।

स्फुरतः, अनन्तरूपेण, प्रकृतिम्, च, न, पश्यतः, क्व, बन्धः, क्व, च, वा, मोक्षः, क्व, हर्षः, क्व, विषादता ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
च	और
अनन्तरूपेण	अनन्त-रूप से
प्रकृतिम्	माया को
न पश्यतः	नहीं देखते हुए
स्फुरतः	प्रकाशमान अर्थात् ज्ञानी को
क्व	कहाँ
बन्धः	बन्धन है
क्व	कहाँ
मोक्षः	मोक्ष है
वा	और
क्व	कहाँ
हर्षः	हर्ष है
च	और
क्व	कहाँ
विषादता	शोक है ॥

भावार्थ ।

जो चिद्रूप आत्मा में कार्य के सहित माया को नहीं देखता है, उसकी दृष्टि में बन्ध कहाँ है ? मोक्ष कहाँ है ? और हर्ष-विषाद कहाँ है ? ॥ ७२ ॥

मूलम् ।

बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्त्तते ।
निर्ममो निरहङ्कारो निष्कामः शोभते बुधः ॥ ७३ ॥

पदच्छेदः ।

बुद्धिपर्यन्तसंसारे, मायामात्रम्, विवर्त्तते, निर्ममः, निरहङ्कारः, निष्कामः, शोभते, बुधः ।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
बुद्धिपर्यंत-संसारे	बुद्धि पर्यन्त संसार में
मायामात्रम्	माया-विशिष्ट चैतन्य
जगत्	जगत-भाव को
विवर्तते	कल्पित करता है
बुधः	ज्ञानी-पुरुष

निर्ममः—ममता-रहित
निरहङ्कारः—अहंकार-रहित
निष्कामः—कामना-रहित
शोभते—शोभायमान होता है ॥

भावार्थ ।

आत्म-ज्ञान पर्यन्त ही है संसार जिसमें, अर्थात् आत्मज्ञान-रूप अन्तवाले संसार में माया सबल चेतन ही विवर्तरूप कल्पित जगदाकार हो भासता है । ऐसे निश्चयवाले विद्वान् का शरीरादिकों में अहंकार नहीं रहता है । वह ममता से और कामना से रहित होकर विचरता है ॥ ७३ ॥

मूलम् ।

अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः ।
क्व विद्या क्व च वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा ॥ ७४ ॥

पदच्छेदः ।

अक्षयम्, गतसंतापम्, आत्मानम्, पश्यतः, मुनेः, क्व, विद्या, क्व, च, वा, विश्वम्, क्व, देहः, अहम्, मम, इति, वा ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।

अक्षयम्—अविनाशी
च—और
गतसंतापम्—संताप-रहित
आत्मानम्—आत्मा को
पश्यतः—देखनेवाले
मुनेः—मुनि को
क्व—कहाँ
विद्या—विद्या, शास्त्र
च—और
क्व—कहाँ
विश्वम्—विश्व है
वा—अथवा
क्व—कहाँ
देहः—देह है
वा—अथवा
क्व—कहाँ
अहम् मम—अहं मम भाव है ॥

भावार्थ।

जो विद्वान् नाश से रहित, संतापों से रहित आत्मा को देखता है, उसको विद्या कहाँ? और शास्त्र कहाँ? क्योंकि उसकी दृष्टि में न जगत् है, और न शरीर है। आत्मा से अतिरिक्त का उसमें स्फुरण नहीं होता है॥ ७४॥

मूलम्।

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।
मनोरथान्प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोति तत्क्षणात्॥ ७५॥

पदच्छेदः।

निरोधादीनि, कर्माणि, जहाति, जडधीः, यदि, मनोरथान्, प्रलापान्, च, कर्तुम्, आप्नोति, तत्क्षणात्।

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
यदि	जब	तत्क्षणात्	तभी से
जडधीः	अज्ञानी	मनोरथान्	मनोरथों को
निरोधादीनि	चित्त-निरोधादि	च	और
कर्माणि	कर्मों को	प्रलापान्	प्रलापों के
जहाति	त्यागता है	कर्तुम्	करने को
		आप्नोति	प्रवृत्त होता है॥

भावार्थ।

यदि अज्ञानी चित्त के निरोधादि कर्मों का त्याग भी कर देवे, तो भी वह मनोराज्यादिकों और वाणी के प्रलापों का किया करता है॥ ७५॥

मूलम् ।

मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम् ।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः ॥ ७६ ॥

पदच्छेदः ।

मन्दः, श्रुत्वा, अपि, तत्, वस्तु, न, जहाति, विमूढताम्, निर्विकल्पः, बहिः, यत्नात्, अन्तर्विषयलालसः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
मन्दः	मूर्ख	परन्तु	परन्तु
तत्	उस	बहिः	बाह्य
वस्तु	आत्मा को	यत्नात्	व्यापार से
श्रुत्वा	सुन करके	निर्विकल्पः	संकल्प-रहित हुआ
अपि	भी	अन्तर्विषयलालसः	भीतर अर्थात् मन में विषय की लालसावाला
विमूढताम्	मूढ़ता को	भवति	होता है ॥
न जहाति	नहीं त्याग करता है		

भावार्थ ।

मूर्ख आत्मा का श्रवण करके भी अपनी मूर्खता का त्याग नहीं करता है। मलिन चित्तवाले को आत्मा के श्रवण करने से भी ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है। मूर्ख बाह्य व्यापार से रहित होता हुआ भी मन में विषयों को धारण किया करता है ॥ ७६ ॥

मूलम् ।

ज्ञानाद्गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत् ।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किञ्चन ॥ ७७ ॥

पदच्छेदः ।

ज्ञानात्, गलितकर्मा, यः, लोकदृष्ट्या, अपि, कर्मकृत, न, आप्नोति, अवसरम्, कर्तुम्, वक्तुम्, एव, न, किञ्चन ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
ज्ञानात्–	ज्ञान से
गलितकर्मा–	नष्ट हुआ है कर्म जिसका, ऐसा
यः–	जो ज्ञानी
लोकदृष्ट्या–	लोक-दृष्टि से
कर्मकृत्–	कर्म का करनेवाला
अपि–	भी
अस्ति–	है
परन्तु–	परन्तु
सः–	वह
न–	न
किञ्चन–	कुछ
कर्तुम्–	करने को
अवसरम्–	अवसर
आप्नोति–	पाता है
च–	और
न–	न
किञ्चन–	कुछ
वक्तुम् एव–	कहने को ॥

भावार्थ ।

जिस विद्वान् का कर्मों में अध्यास आत्म-ज्ञान से नष्ट हो गया है, वह लोक-दृष्टि से कर्म करता हुआ मालूम देता है, परन्तु मैं कर्म को करता हूँ, ऐसा वह कभी भी नहीं कहता है। क्योंकि उसको आत्म-ज्ञान के प्रताप से कर्मफल की इच्छा ही नहीं होती है ॥ ७७ ॥

मूलम् ।

क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किञ्चन ।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा ॥ ७८ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, तमः, क्व, प्रकाशः, वा, हानम्, क्व, च, न, किञ्चन, निर्विकारस्य, धीरस्य, निरातंकस्य, सर्वदा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निर्विकारस्य	निर्विकार	वा	अथवा
च	और	क्व	कहाँ
सर्वदा	सर्वदा	प्रकाशः	प्रकाश है
निरातंकस्य	निर्भय	च	और
धीरस्य	ज्ञानी को	क्व	कहाँ
क्व	कहाँ	हानम्	त्याग है
तमः	अन्धकार है	न किञ्चन	कुछ नहीं है ॥

भावार्थ ।

हे शिष्य ! जिस ज्ञानी के मोहादि-रूप सब विकार दूर हो गए हैं, उसकी दृष्टि में तम कहाँ है ? और तम के अभाव होने से प्रकाश कहाँ है ? ये दोनों सापेक्षिक हैं । एक के न होने से दूसरे की भी स्थिति नहीं है। क्योंकि लौकिक दृष्टि से ही तम और प्रकाश हैं, वह लौकिक दृष्टि उसकी आत्म-दृष्टि से नष्ट हो जाती है, इसलिये उसकी दृष्टि में प्रकाश और तम दोनों नहीं रहते हैं । ऐसे ज्ञानी को कालादिकों का भी भय नहीं रहता है। उसको न कहीं हानि है, न लाभ है, न किसी में राग है, न द्वेष है, न ग्रहण है, न त्याग है ॥ ७८ ॥

मूलम् ।

क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातङ्कताऽपि वा ।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः ॥ ७९ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, धैर्यम्, क्व, विवेकित्वम्, क्व, निरातङ्कता, अपि, वा, अनिर्वाच्यस्वभावस्य, निःस्वभावस्य, योगिनः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अनिर्वाच्य-स्वभावस्य	अनिर्वचनस्वभाव-वाले	विवेकित्वम्	विवेकता
च	और	क्व	कहाँ है
निःस्वभावस्य	स्वभाव-रहित	वा	अथवा
योगिनः	योगी को	निरातङ्कता	निर्भयता
धैर्यम्	धीरता	अपि	भी
क्व	कहाँ है	क्व	कहाँ है ?

भावार्थ ।

अनिर्वाच्य स्वभाववाले योगी को धीरता कहाँ है ? और विवेकता कहाँ ? स्वभाव-रहित योगी को भय और निर्भयता कहाँ ? वह सदा आनन्द-रूप एकरस है ॥ ७९ ॥

मूलम् ।

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि ।
बहुनाऽत्र किमुक्तेन योगदृष्टया न किञ्चन ॥ ८० ॥

पदच्छेदः ।

न, स्वर्गः, न, एव, नरकः, जीवन्मुक्तिः, न, च, एव, हि, बहुना, अत्र, किम्, उक्तेन, योगदृष्ट्या, न, किञ्चन ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
ज्ञानिनम्—ज्ञानी को		हि—निश्चय करके	
न—न		अत्र—इसमें	
स्वर्गः—स्वर्ग है		बहुना—बहुत	
न—न		उक्तेन—कहने से	
नरकः एव—नरक ही है		किम्—क्या प्रयोजन है	
च—और		योगिनम्—योगी को	
न—न		योगदृष्ट्या—योग-दृष्टि से	
जीवन्मुक्ति एव—जीवन्मुक्ति ही है		किञ्चन न—कुछ भी नहीं है ॥	

भावार्थ ।

जीवन्मुक्त आत्म-ज्ञानी की दृष्टि में न स्वर्ग है, और न नरक है ।

प्रश्न—नास्तिक भी स्वर्ग नरक को नहीं मानता है, अर्थात् नास्तिक की दृष्टि में भी न स्वर्ग है, न नरक है, तब नास्तिक और जीवन्मुक्त में कुछ भी भेद न रहा ?

उत्तर—नास्तिक की दृष्टि में यह लोक तो है, परन्तु परलोक नहीं है, और न उसकी दृष्टि में आत्मा ही है । वह तो केवल शून्य को ही मानता है, और ज्ञानी जीवन्मुक्त की दृष्टि में लोक-परलोक दोनों नहीं हैं, किन्तु सर्वत्र एक आत्मा ही परिपूर्ण व्यापक है । आत्मा से अतिरिक्त और कुछ भी योगी की दृष्टि में नहीं है ॥ ८० ॥

मूलम् ।

नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति ।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम् ॥ ८१ ॥

पदच्छेदः ।

धीरः, न, द्वेष्टि, संसारम्, आत्मानम्, न, दिदृक्षति, हर्षामर्षविनिर्मुक्तः, न, मृतः, न, च, जीवति ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तः	हर्ष-रोग-रहित
धीरः	ज्ञानी
संसारम्	संसार के प्रति
न	न
द्वेष्टि	द्वेष करता है
च	और
न आत्मानम्	न आत्मा को
दिदृक्षति	देखने की इच्छा करता है
सः	वह
न	न
मृतः	मरा हुआ है
च	और
न	न
जीवति	जीता है ॥

भावार्थ ।

जो धीर ज्ञानी जीवन्मुक्त है, वह संसार के साथ द्वेष नहीं करता है। क्योंकि वह संसार को देखता ही नहीं है, अपनी आत्मा को ही देखता है। और यदि संसार को देखता है, तो बाधितानु-वृत्ति द्वारा देखता है। और इसीलिये वह संसार के साथ द्वेष नहीं करता है। परिपक्व अवस्था में वह आत्मा को भी नहीं देखता है। क्योंकि वह स्वयम् आत्मा-रूप है और इसी कारण वह हर्षादिकों से और जन्म-मरण से रहित है ॥ ८३ ॥

मूलम् ।

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च ।
निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः ॥ ८४ ॥

पदच्छेदः ।

निःस्नेहः, पुत्रदारादौ, निष्कामः, विषयेषु, च, निश्चिन्तः, स्वशरीरे, अपि, निराशः, शोभते, बुधः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
पुत्रदारादौ	पुत्र और स्त्री आदि में	अपि	और
निःस्नेह	स्नेह रहित	स्वशरीरे	अपने शरीर में
च	और	निश्चिन्तः	चिन्ता-रहित
विषयेषु	विषयों में	बुधः	ज्ञानी
निष्कामः	कामना-रहित	निराशः	निराश होकर ही
		शोभते	शोभायमान होता है ॥

भावार्थ ।

विद्वान् जीवन्मुक्त निराश होकर ही शोभा को पाता है । क्योंकि स्त्री-पुत्रादि के स्नेह से वह रहित है, और इसी कारण विषयों में और भोगों में वह निष्काम है । अर्थात् अपने शरीर की स्थिति के लिये भी भोजन आदि की चिन्ता नहीं करता है ॥८४॥

मूलम् ।

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः ।
स्वच्छन्दं चरतो देशान्यत्रास्तमितशायिनः ॥ ८५ ॥

पदच्छेदः ।

तुष्टिः, सर्वत्र, धीरस्य, यथापतितवर्तिनः, स्वच्छन्दम्, चरतः, देशान्, यत्र, अस्तमितशायिनः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यत्र	जहाँ
अस्तमितशायिन.	सूर्य अस्त होता है, वहाँ ही शयन करने वाले
च	और
स्वच्छन्दम्	इच्छानुसार
देशान्	देशों में
चरतः	फिरनेवाले
धीरस्य	ज्ञानी की
यथापतितवर्तिनः	पतितवर्त्ती के समान
सर्वत्र	सर्वत्र
तुष्टिः	आनन्द
भवति	होता है ॥

भावार्थ ।

धीर ज्ञानी को जैसे-जैसे प्रारब्धवश से पदार्थ की प्राप्ति होती है, वैसे ही वैसे वह संतुष्ट रहता है, और प्रारब्ध के वश से नाना प्रकार के देशों में, वनों में, नगरों में विचरता हुआ सर्वत्र ही तुष्ट रहता है ॥ ८५ ॥

मूलम् ।

पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः ।
स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः ॥ ८६ ॥

पदच्छेदः ।

पततु, उदेतु, वा, देहः, न, अस्य, चिन्ता, महात्मनः, स्वभाव-भूमि-विश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः	जो निज स्वभाव रूपी भूमि में विश्राम करता है, विस्मरण है सम्पूर्ण संसार जिसको, ऐसे	चिन्ता	चिन्ता
		न	नहीं है
		वा	चाहे
		देहः	देह
		उदेतु	स्थित रहैं
महात्मनः	महात्मा को	वा	चाहे
अस्य	इस बात की	पततु	नाश होवे ॥

भावार्थ ।

जिस ज्ञानी को अपना स्वरूप ही भूमि है, अर्थात् विश्राम का स्थान है । जिसको अपने स्वरूप में विश्राम करके किसी प्रकार की भी चिन्ता नहीं होती है, चाहे देह रहे, वा न रहे, वही जीवन्मुक्त है, वही संसार से निवृत्त है ॥ ८६ ॥

मूलम् ।

अकिञ्चनः कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः ॥ ८७ ॥

पदच्छेदः ।

अकिञ्चनः, कामचारः, निर्द्वन्द्वः, छिन्नसंशयः, असक्तः, सर्वभावेषु, केवलः, रमते, बुधः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अकिञ्चनः	गृहस्थधर्म-रहित	बुधः	ज्ञानी
कामचारः	विधि-निषेध रहित	सर्वभावेषु	सब भावों में
असक्तः	आसक्ति रहित	रमते	रमण करता है ॥
केवलः	विकार रहित		

भावार्थ ।

जीवन्मुक्त निर्विकार होकर संसार में रमण करता है, अपने पास कुछ भी नहीं रखता है । वह विधि-निषेध का किङ्कर नहीं होता है । स्वच्छन्दचारी है । अपनी इच्छा से विचरता है । सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से वह रहित है, संशयों से भी रहित है, वह किसी पदार्थ में भी आसक्त नहीं है ॥ ८७ ॥

मूलम् ।

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
सुभिन्नहृदयग्रन्थिर्विनिर्धूतरजस्तमः ॥ ८८ ॥

पदच्छेदः ।

निर्ममः, शोभते, धीरः, समलोष्टाश्मकाञ्चनः, सुभिन्न-हृदयग्रन्थिः, विनिर्धूतरजस्तमः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निर्ममः	जो ममता-रहित है
समलोष्टाश्मकाञ्चनः	जिसको ढेला, पत्थर और स्वर्ण समान है
सुभिन्नहृदयग्रन्थिः	टूट गई है हृदय की ग्रन्थि जिसकी
विनिर्धूतरजस्तमः	धुल गया है रज और तम स्वभाव जिसका, ऐसा ज्ञानी
शोभते	शोभायमान होता है ॥

भावार्थ ।

ममता से रहित ही जीवन्मुक्त ज्ञानी शोभा को पाता है । क्योंकि उसकी दृष्टि में पत्थर, मिट्टी और सोना बराबर है ।

आत्म-ज्ञान के बल से उसके हृदय की ग्रन्थि टूट गई है, रज-तम-रूप मल उसके दूर हो गये हैं ॥ ८८ ॥

मूलम् ।

सर्वत्रानवधानस्य न किञ्चिद्वासना हृदि ।
मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते ॥ ८९ ॥

पदच्छेदः ।

सर्वत्र, अनवधानस्य, न, किञ्चित, वासना, हृदि, मुक्तात्मनः, वितृप्तस्य, तुलना, केन, जायते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सर्वत्र	सब विषयों में	ईदृशस्य	ऐसे
अनवधानस्य	आसक्ति रहित	तृप्तस्य	तृप्त हुए
हृदि	हृदय में	मुक्तात्मनः	ज्ञानी को
किञ्चित्	कुछ भी	तुलना	बराबरी
वासना	वासना	केन	किसके साथ
न	नहीं है	जायते	की जा सकती है ।

भावार्थ ।

जिस ज्ञानी को किसी विषय में चित्त की रुचि नहीं है, और जिसके हृदय में किंचित् भी वासना नहीं है, वही अध्यास से रहित ज्ञानी है । उसकी तुलना किसी के साथ नहीं की जा सकती है, केवल ज्ञानी के साथ ही की जाती है ॥ ८९ ॥

मूलम् ।

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते ॥ ९० ॥

पदच्छेदः ।

जानन्, अपि, न, जानाति, पश्यन्, अपि, न, पश्यति, ब्रुवन्, अपि, न, च, ब्रूते, कः, अन्यः, निर्वासनात्, ऋते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निर्वासनात्	वासना-रहित पुरुष से
ऋते	इतर
अन्यः	दूसरा
कः	कौन है
यः	जो
जानन्	जानता हुआ
अपि	भी
न	नहीं
जानाति	जानता है
पश्यन्	देखता हुआ
अपि	भी
न पश्यति	नहीं देखता है
च	और
ब्रुवन्	बोलता हुआ
अपि	भी
न ब्रूते	नहीं बोलता है

भावार्थ ।

जीवन्मुक्त विद्वान् पदार्थों को जानता हुआ भी नहीं जानता है, देखता हुआ भी नहीं देखता है, कथन करता हुआ भी नहीं कथन करता है। लोक-दृष्टि से जानता भी है, देखता भी है, सुनता भी है, परन्तु परमार्थ-दृष्टि से न देखता है, न सुनता है, न बोलता है। निर्वासनिक ज्ञानी के अतिरिक्त दूसरा ऐसा कौन कर सकता है, अर्थात् कोई भी नहीं कर सकता है ॥९०॥

मूलम् ।

भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते ।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाऽशोभना मतिः ।। ९१ ।।

पदच्छेदः ।

भिक्षुः, वा, भूपतिः, वा, अपि, यः, निष्कामः, सः, शोभते, भावेषु, गलिता, यस्य, शोभनाऽशोभना, मतिः ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
यः	जो
सः	वह
शोभते	शोभायमान होता है
वा	अथवा
भिक्षुः	भिक्षु हो
अपि	भी
वा	अथवा
भूपतिः	राजा हो ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
भावेषु	सब भावों में
गलिता	गलित हुई है
शोभनाऽशोभना	श्रेष्ठ अश्रेष्ठ
मतिः	बुद्धि
यस्य	जिसकी
तस्मात्	इसीलिये
निष्कामः	कामना-रहित है

भावार्थ ।

जिस ज्ञानी की उत्तम पदार्थों में इच्छा-बुद्धि नहीं है, और अनुत्तम पदार्थों में दोष-बुद्धि नहीं है, ऐसा जो निष्काम है, वह चाहे भिक्षुक हो, अथवा राजा हो, संसार में वही शोभा को प्राप्त होता है। राजाओं में निष्काम जनक और श्रीरामचन्द्रजी हुए हैं, जिनके यश को आज तक संसार में लोग गान करते हैं। और विरक्तों में जड़भरत, दत्तात्रेय और याज्ञवल्क्य आदि हुए हैं, जिनके शुभ चरित्र हस्तामलकवत् सबकी दृष्टि में दिखाई दे रहे हैं ।। ९१ ।।

मूलम् ।

क्व स्वाच्छन्द्यं क्व संङ्कोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः ।
निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः ॥ ९२ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, स्वाच्छन्द्यम्, क्व, संङ्कोचः, क्व, वा, तत्त्वविनिश्चयः, निर्व्याजार्जवभूतस्य, चरितार्थस्य, योगिनः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निर्व्याजार्जव-भूतस्य	निष्कपट और सरल-रूप	स्वाच्छन्द्यम्	स्वतन्त्रता है
च	और	क्व	कहाँ
चरितार्थस्य	वास्तविक	संङ्कोचः	संकोच है
योगिनः	योगी को	वा	अथवा
क्व	कहाँ	क्व	कहाँ
		तत्त्वविनिश्चयः	तत्त्व का निश्चय है ॥

भावार्थ ।

जो निष्कपट योगी है, कोमल स्वभाववाला है, आत्म-निष्ठावाला है, पूर्णार्थी है, स्वेच्छा-पूर्वक आचारवाला है, उसको संकोच कहाँ है ? और वृत्त्यादि संचरण कहाँ है ? उसको कर्तृत्व कहाँ है ? कहीं नहीं है; क्योंकि पदार्थों में उसका अध्यास नहीं है ॥ ९२ ॥

मूलम् ।

आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्तिना ।
अन्तर्यदनुभूयेत तत्कथं कस्य कथ्यते ॥ ९३ ॥

पदच्छेदः ।

आत्मविश्रान्तितृप्तेन, निराशेन, गतार्तिना, अन्तः, यत, अनुभूयेत, तत्, कथम्, कस्य, कथ्यते ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
आत्मविश्रान्ति-तृप्तेन-	आत्मा में विश्राम कर तृप्त हुए
च-	और
निराशेन-	आशा-रहित हुए
गतार्तिना-	ज्ञानी के
अन्तः-	अभ्यन्तर में
यत्-	जो
अनुभूयेत-	अनुभव होता है
तत्-	सो
कस्य-	किससे अर्थात किस अधिकारी के प्रति
कथम्-	कैसे
कथ्यते-	कहा जावे ॥

भावार्थ ।

जो विद्वान् अपनी आत्मा में तृप्त है, वह शान्त है; संसार से निराश है। जो आनन्द वह अपने अन्तःकरण में अनुभव करता है, वह उस आनन्द को लोगों के प्रति कह नहीं सकता है। क्योंकि उसके तुल्य दूसरा कोई आनन्द उसको नहीं मिलता है।

दृष्टांत—एक कुमारी कन्या ने विवाहिता कन्या से पूछा कि पति के साथ संभोग में कैसा आनन्द है ? उसने कहा, वह आनन्द मैं कह नहीं सकती हूँ। उस आनन्द की उपमा कोई नहीं है। जब तू विवाही जावेगी; तब आप ही तू जान लेगी। क्योंकि वह स्वसंवेद्य है वैसे ज्ञानवान् का आनंद भी स्वसंवेद्य है, वह वाणी द्वारा कहा नहीं जा सकता है ॥ ९३ ॥

मूलम् ।

सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च ।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे ॥ ९४ ॥

पदच्छेदः ।

सुप्तः, अपि, न, सुषुप्तौ, च, स्वप्ने, अपि, शयितः, न, च, जागरे, अपि, न, जागर्ति, धीरः, तृप्तः, पदे, पदे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
धीरः	ज्ञानी
सुषुप्तौ	सुषुप्ति में
सुप्तः	सुप्तवान्
न	नहीं है
च	और
स्वप्ने	स्वप्न में
अपि	भी
न	नहीं
शयितः	सोया हुआ है
च	और
जागरे	जाग्रत् में
अपि	भी
न	नहीं
जागर्ति	जागता है
अतएव	इसीलिये
सः	वह
पदे पदे	क्षण-क्षण में
तृप्तः	तृप्त है ॥

भावार्थ ।

जीवन्मुक्त ज्ञानी सुषुप्ति के होने पर भी सुषुप्तिवाला नहीं होता है और स्वप्न अवस्था के प्राप्त होने पर भी वह स्वप्न अवस्थावाला नहीं होता है। जाग्रत् अवस्थाओं में जागता हुआ भी वह जागता नहीं है। क्योंकि तीनों अवस्थाओंवाली जो बुद्धि है; उसका वह साक्षी होकर उससे पृथक् है ॥ ९४ ॥

मूलम् ।

ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः ।
सबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहंकृतिः ॥ ९५ ॥

पदच्छेदः ।

ज्ञः, सचिन्तः, अपि, निश्चिन्तः, सेन्द्रियः, अपि, निरिन्द्रियः, सबुद्धिः, अपि, निर्बुद्धिः, साहंकारः, अनहंकृतिः ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
ज्ञः	ज्ञानी	सबुद्धिः	बुद्धि-सहित
सचिन्तः	चिन्ता सहित	अपि	भी
अपि	भी	निर्बुद्धि	बुद्धि-रहित है
निश्चिन्तः	चिन्ता-रहित है	साहंकारः	अहंकार-सहित
सेन्द्रियः	इन्द्रियों-सहित	अपि	भी
अपि	भी	अनहंकृतिः	अहंकार-रहित है ॥
निरिन्द्रियः	इन्द्रिय-रहित है		

भावार्थ ।

ज्ञानवान् जीवन्मुक्त लोगों की दृष्टि में चिन्ता-युक्त प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह चिन्ता-रहित है, लोक-दृष्टि से वह इन्द्रियों के सहित है, वास्तव में वह निरिन्द्रिय है । लोगों की दृष्टि में वह बुद्धि-युक्त प्रतीत होता है; वास्तव में वह बुद्धि-रहित है । लोगों की दृष्टि में अहंकार के सहित है, वास्तव में वह अहंकार-रहित है । क्योंकि सर्वत्र ही उसकी आत्म-दृष्टि है । जो अपने आप में आनन्द है, वह और किसी में देखता नहीं है ॥ ९५ ॥

मूलम् ।

न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न सङ्गवान् ।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किञ्चिन्न च किञ्चन् ॥ ९६ ॥

पदच्छेदः ।

न, सुखी, न, च, वा, दुःखी, न, विरक्तः, न, सङ्गवान्, न, मुमुक्षुः, न, वा, मुक्तः, न, किञ्चित्, न, च, किञ्चन ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
ज्ञानी	ज्ञानी
न	न
सुखी	सुखी है
च वा	और
न	न
दुःखी	दुःखी है
न	न
विरक्तः	विरक्त है
न	न
सङ्गवान्	संगवान् है
न	न
मुमुक्षुः	मुमुक्षु है
न वा	अथवा न
मुक्तः	मुक्त है
न किञ्चित्	न कुछ है
न च	और न
किञ्चन	किञ्चन है ॥

भावार्थ ।

जीवन्मुक्त ज्ञानी लोक-दृष्टि से तो वह विषय-भोगों द्वारा बड़ा सुखी प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में वह विषय जन्य सुख से रहित है और फिर लोक-दृष्टि से शारीरिकादि रोगों से दुःखी भी प्रतीत होता है, परन्तु आत्म-दृष्टि से वह रोगादिकों से रहित ही है। क्योंकि अन्तःकरणादि के साथ उनका अध्यास नहीं रहा है।

प्रश्न—अध्यास किसको कहते हैं ?

उत्तर—'सत्यानृतवस्त्वभेदप्रतीतिरध्यासः ।''

सत्य वस्तु और मिथ्या वस्तु की जो अभेद प्रतीति है, उसी का नाम अध्यास है, सो सत्य वस्तु आत्मा है, और मिथ्या वस्तु अन्तःकरण है, इन दोनों की अभेद प्रतीति अज्ञानी को होती है, इसी वास्ते अन्तःकरण के धर्म जो सुख-दुःखादिक हैं, उनको वह अपने में मानता है, इसी से वह सुखी-दुःखी होता है। ज्ञानी का अध्यास रहा नहीं इसी वास्ते वह सुख-दुःखादिकों को अन्तःकरण में मानता है, अपने में नहीं मानता है। इसी कारण वह सुख-दुःखादिकों से रहित ही रहता है। ऐसा जीवन्मुक्त विरक्त भी नहीं है, क्योंकि उसका विषयों में द्वेष नहीं है, और वह मुक्त भी नहीं है, क्योंकि प्रथम से ही उसको बन्ध नहीं है। यदि बन्ध होता, तब वह मुक्त भी होता। बन्ध उसको न था, न है, ज्यों का त्यों अपने आपमें स्थित है ।। ९६ ।।

मूलम् ।

विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान् ।
जाड्येऽपि न जडो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः ।। ९७ ।।

पदच्छेदः ।

विक्षेपे, अपि, न, विक्षिप्तः, समाधौ, न, समाधिमान्, जाड्ये, अपि, न, जड़ः, धन्यः, पाण्डित्ये, अपि, न, पण्डितः ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
धन्यः	ज्ञानी	न	नहीं
विक्षेपे	विक्षेप में	विक्षिप्तः	विक्षेपवान् है
अपि	भी	समाधौ	समाधि में

न=नहीं
समाधिमान्=समाधिवान् है
जाड्ये=जड़ता में
अपि=भी
न=नहीं
जडः=जड़ है
पाण्डित्ये=पंडिताई में
अपि=भी
न=नहीं
पण्डितः=पंडित है ॥

भावार्थ ।

संसार में ज्ञानवान् पुरुष धन्य है क्योंकि लोक-दृष्टि द्वारा उसको विक्षेप होने पर भी वह विक्षप्ति नहीं होता है, क्योंकि उसको स्वप्रकाश आत्मा का अनुभव हो रहा है। और लोक दृष्टि से वह समाधि में भी स्थिति है परन्तु वास्तव में वह समाधि में स्थित भी नहीं हैं क्योंकि उसको कर्तृत्वाध्यास नहीं है। फिर वह लोक-दृष्टि द्वारा जड़ प्रतीत होता है, क्योंकि जड़ की तरह वह विचरता है।

फिर वह लोक-दृष्टि से पंडित प्रतीत होता है; परन्तु वह पंडित भी नहीं है, क्योंकि उसको अभिमान नहीं है। इन्हीं हेतुओं से वह जीवन्मुक्त धन्य है॥ ९७॥

मूलम् ।

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्त्तव्यनिवृतः ।
समः सर्वत्र वैतृष्णान्न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ ९८ ॥

पदच्छेदः ।

मुक्तः, यथास्थितिस्वस्थः, कृतकर्तव्यनिवृतः, समः, सर्वत्र, वैतृष्णात्, न, स्मरति, अकृतम्, कृतम् ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
मुक्तः	ज्ञानी
यथास्थितिस्वस्थः	कर्मानुसार यथा-प्राप्त वस्तु में स्वस्थ चित्तवाला है
कृतकर्तव्यनिर्वृतः	किये हुए और करने-योग्य कर्म में संतोषवान् है
सर्वत्र	सर्वत्र

अन्वयः।	शब्दार्थ।
समः	सम है
च	और
वैतृष्णात्	तृष्णा के अभाव से
अकृतम्	नहीं किये हुए
च	और
कृतम्	किए हुए
कर्म	कर्म को
न स्मरति	नहीं स्मरण करता है॥

भावार्थ।

जीवन्मुक्त को प्रारब्ध के वश से जैसी स्थिति प्राप्त होती है, उसी में स्वस्थचित्तवाला ही वह रहता है। वह उद्वेग को कदापि नहीं प्राप्त होता है, और पूर्व किए हुए तथा आगे करने-वाले दोनों कर्मों में संतुष्ट चित्त ही रहता है, क्योंकि उसमें हठ अर्थात् आग्रह किसी प्रकार का भी नहीं है, इसी वास्ते वह किए हुए और न किए हुए कर्मों का स्मरण भी नहीं करता है॥ ९८॥

मूलम्।

न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनन्दति॥ ९९॥

पदच्छेदः।

न, प्रीयते, वन्द्यमानः, निन्द्यमानः, न, कुप्यति, न, एव, उद्विजति, मरणे, जीवने, न, अभिनन्दति।

अन्वयः।	शब्दार्थ।
ज्ञानी	ज्ञानी
वन्द्यमानः	स्तुति किया हुआ
न	नहीं
प्रीयते	प्रसन्न होता है
च	और
निन्द्यमानः	निन्दा किया हुआ
न	नहीं
कुप्यति	कोप करता है

अन्वयः।	शब्दार्थ।
च	और
मरणे	मरण में
न एव	कभी नहीं
उद्विजति	उद्वेग करता है
च	और
जीवने	जीवन में
न	नहीं
अभिनन्दति	हर्ष करता है ॥

भावार्थ।

जीवन्मुक्त ज्ञानी इतर पुरुषों द्वारा स्तुति को प्राप्त हुआ भी हर्ष को नहीं प्राप्त होता है, और इतर पुरुषों द्वारा निन्दा किया हुआ भी क्रोध को नहीं प्राप्त होता है, और मृत्यु के आने पर भी वह भय को भी नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि उसकी दृष्टि में आत्मा नित्य है, जन्म-मरण कोई वस्तु नहीं है। उसको अधिक जीने की न इच्छा है, न मरने का शोक है, वह सदा एकरस है ॥ ९९ ॥

मूलम्।

न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशान्तधीः ।
यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते ॥ १०० ॥

पदच्छेदः।

न, धावति, जनाकीर्णम्, न, अरण्यम्, उपशान्तधीः, यथा, तथा, यत्र, तत्र, समः, एव, अवतिष्ठते ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।
उपशान्तधीः	शान्त बुद्धिवाला पुरुष
न	न
जनाकीर्णम्	मनुष्यों से व्याप्त देश के सम्मुख
च	और
न	न
अरण्यम्	वन के सम्मुख
धावति	दौड़ता है
परन्तु	परन्तु
यत्र तत्र	जहाँ तहाँ
समः एव	समभाव से ही
अवतिष्ठते	स्थित रहता है ॥

भावार्थ।

हे शिष्य ! जो जीवन्मुक्त शान्तचित्त है, वह जनों द्वारा भरे पुरे देश को भी नहीं दौड़ता है, क्योंकि उसके साथ उसका राग नहीं, और वन की ओर भी नहीं दौड़ता है, क्योंकि मनुष्यों के साथ उसका द्वेष नहीं है, जहाँ तहाँ वन में अथवा नगर में वह स्वस्थचित्त होकर एकरस ज्यों का त्यों ही रहता है ॥ १०० ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीताभाषाटीकायां शान्तिशतकं नामाष्टादशप्रकरणं समाप्तम् ।

—:०:—

उन्नीसवाँ प्रकरण ।

—:o:—

मूलम् ।

तत्त्वविज्ञानसंदंशमादाय हृदयोदरात् ।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

तत्त्वविज्ञानसंदंशम्, आदाय, हृदयोदरात्, नानाविध-परामर्शशल्योद्धारः, कृतः, मया ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
भावतः	आपसे
तत्त्वविज्ञान-संदंशम्	तत्त्वज्ञानरूप संसी को
आदाय	ले करके
हृदयोदरात्	हृदय और उदर से
नानाविधपरा-मर्शशल्योद्धारः	नाना प्रकार के विचार रूपबाण का उद्धार
मया	मुझ से
कृतः	किया गया है ॥

भावार्थ ।

अब एकोनविंशति प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं—

शिष्य गुरु के मुख से तत्त्व-ज्ञानी की स्वाभाविक शान्ति को श्रवण करके, अपने को कृतार्थ मानकर, अब गुरु के तोष के लिये अपनी शान्ति को आठ श्लोकों द्वारा कहता है ।

हे गुरो ! मैंने आपके सकाश से तत्त्वज्ञान के उपदेश की संसीरूपी शास्त्र द्वारा अपने हृदय से नाना प्रकार के संकल्पों और विकल्पों को निकाल दिया है ॥ १ ॥

मूलम् ।

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता ।
क्व द्वैतं क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, धर्मः, क्व, च, वा, कामः, क्व, च, अर्थः, क्व, विवेकता, क्व, द्वैतम्, क्व, च, वा, अद्वैतम्, स्वमहिम्नि, स्थितस्य, मे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
स्वमहिम्नि	अपनी महिमा में	च	और
स्थितस्य	स्थित हुए	क्व	कहाँ
मे	मुझको	अर्थः	अर्थ है ?
क्व	कहाँ	वा	अथवा
धर्मः	धर्म है ?	क्व	कहाँ
च	और	द्वैतम्	द्वैत है ?
कामः	काम है ?	वा	अथवा
		क्व	कहाँ
		अद्वैतम्	अद्वैत है ?

भावार्थ ।

शिष्य कहता है कि मुझको धर्म कहाँ है ? और काम कहाँ है ? मैंने धर्म, अर्थ, और काम को अपने हृदय से निकाल दिया है। क्योंकि ये सब विनाशी हैं, और जो मैं अपनी महिमा में स्थित हूँ, तो मुझको विवेक कहाँ ? विवेक से भी मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है, और चेतन आत्मा में जो विश्रान्ति को प्राप्त हुआ है, उसको द्वैत और अद्वैत से भी कुछ प्रयोजन नहीं है।

दृष्टांत—"उत्तीर्णेतुगते पारे नौकायाः किं प्रयोजनम् ।"

जब कि पुरुष नदी के पार उतर जाता है, तब नौका का कुछ प्रयोजन नहीं रहता है। इसी तरह द्वैत का जब आत्मज्ञान से बाध हो जाता है, तब फिर द्वैत के साथ अद्वैत का भी कुछ प्रयोजन नहीं रहता है, क्योंकि अद्वैत भी द्वैत की अपेक्षा करके कहा जाता है। जब द्वैत न रहा, तब अद्वैत कहना भी व्यर्थ ही है। इस वास्ते द्वैत और अद्वैत दोनों मुझमें नहीं हैं ॥ २ ॥

मूलम् ।

क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा ।
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, भूतम्, क्व, भविष्यत्, वा, वर्तमानम्, अपि, क्व, वा, क्व, देशः, क्व, च, वा, नित्यम्, स्वमहिम्नि, स्थितस्य, मे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
नित्यम्=नित्य	
स्वमहिम्नि=अपनी महिमा में	
स्थितस्य=स्थित हुए	
मे=मुझको	
क्व=कहाँ	
भूतम्=भूत है ?	
क्व=कहाँ	
भविष्यत्=भविष्यत् है ?	
वा=अथवा	
क्व=कहाँ	
वर्तमानम् अपि=वर्तमान भी है ?	
वा=अथवा	
क्व=कहाँ	
देशः=देश है ?	

भावार्थ ।

शिष्य कहता है कि हे गुरो ! काल का भी मेरे को स्फुरण

नहीं होता है। मेरी दृष्टि में भूत, भविष्यत्, और वर्तमान कोई नहीं है, और न कोई देश है। क्योंकि मैं नित्य अपनी महिमा में ही स्थित हूँ और सबमें मेरी एक आत्मदृष्टि है ॥ ३ ॥

मूलम् ।

क्व च आत्मा क्व चवाऽनात्मा क्व शुभं क्वशुभं तथा ।
क्वचिन्ता क्व च वाऽचिन्तास्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥४॥

पदच्छेदः ।

क्व, च, आत्मा, क्व, च, वा, अनात्मा, क्व, शुभम्, क्व, अशुभम्, तथा, क्व, चिन्ता, क्व, च, वा, अचिन्ता, स्वमहिम्नि, स्थितस्य, मे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
स्वमहिम्नि	अपनी महिमा में
स्थितस्य	स्थित हुए
मे	मुझको
क्व	कहाँ
आत्मा	आत्मा है ?
च	और
वा	अथवा
क्व	कहाँ
अनात्मा	अनात्मा है ?
क्व	कहाँ
शुभम्	शुभ है ?
क्व	कहाँ
अशुभम्	अशुभ है ?
तथा	और
क्व	कहाँ
चिन्ता	चिन्ता है ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
अचिन्ता	अचिन्ता है ?

भावार्थ ।

शिष्य कहता है कि हे गुरो ! अपनी महिमा में स्थित जो मैं हूँ, मेरी दृष्टि में आत्मा कहाँ ? और अनात्मा कहाँ है ?

अर्थात् आत्मा और अनात्मा का व्यवहार अज्ञानी मूर्ख की दृष्टि में होता है। और शुभ कहाँ हैं ? और अशुभ कहाँ है ? चिन्ता और अचिन्ता कहाँ है ? किन्तु केवल चेतन ही अपनी महिमा में स्थित है ॥ ४ ॥

मूलम् ।

क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा ।
क्व तुरीयं भयं वाऽपि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, स्वप्नः, क्व, सुषुप्तिः, वा, क्व, च, जागरणम्, तथा, क्व, तुरीयम्, भयम्, वा, अपि, स्वमहिम्नि, स्थितस्य, मे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
स्वमहिम्नि	अपनी महिमा में	तथा	और कहाँ
स्थितस्य	स्थित हुए	जागरणम्	जाग्रत है ?
मे	मुझको	क्व	कहाँ
क्व	कहाँ	तुरीयम्	तुरीय है ?
स्वप्नः	स्वप्न है ?	अपि	भी
च	और	वा	अथवा
वा	अथवा	क्व	कहाँ
क्व	कहाँ	भयम्	भय है ?
सुषुप्तिः	सुषुप्ति है ?		

भावार्थ ।

हे गुरो ! मेरी दृष्टि में जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ भी नहीं हैं, क्योंकि ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धि के धर्म हैं, वह बुद्धि ही मिथ्या भान होती है । तुरीय अवस्था

कहाँ है ? और भय कहाँ है ? और अभय कहाँ है ? ये सब अन्तः-करण के ही धर्म हैं, वह अन्तःकरण ही मिथ्या है ॥ ५ ॥

मूलम् ।

क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यन्तरं क्व वा ।
क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, दूरम्, क्व, समीपम्, वा, बाह्यम्, क्व, अभ्यन्तरम्, क्व, वा, क्व, स्थूलम्, क्व, च, वा, सूक्ष्मम्, स्वमहिम्नि स्थितस्य, मे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
स्वमहिम्नि	अपनी महिमा में
स्थितस्य	स्थित हुए
मे	मुझको
क्व	कहाँ
दूरम्	दूर है ?
च	और
क्व	कहाँ है
बाह्यम्	बाह्य है ?
च	और
क्व	कहाँ
समीपम्	समीप है ?
च	और
क्व	कहाँ
अभ्यन्तरम्	अभ्यन्तरम् है ?
च	और
क्व	कहाँ
स्थूलम्	स्थूल है ?
च	और
क्व	कहाँ
सूक्ष्मम्	सूक्ष्म है ॥

भावार्थ ।

मुझ में दूर कहाँ है ? समीप कहाँ है ? बाह्य कहाँ है ? अन्तर

कहाँ है ? स्थूल कहाँ है ? सूक्ष्म कहाँ है ? जो सर्वत्र परिपूर्ण है, उसमें कुछ भी नहीं बनता है ।। ६ ।।

मूलम् ।

क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम् ।
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ।। ७ ।।

पदच्छेदः ।

क्व, मृत्युः, जीवितम्, वा, क्व, लोकाः, क्व, अस्य, क्व, लौकिकम्, क्व, लयः, क्व, समाधिः, वा, स्वमहिम्नि, स्थितस्य, मे ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
स्वमहिम्नि	अपनी महिमा में
स्थितस्य	स्थित हुए
मे	मुझको
क्व	कहाँ
मृत्युः	मृत्यु है ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
जीवितम्	जीवित है ?
क्व	कहाँ ?
लोकाः	भू आदि लोक है ?
अस्य	इस मुझ ज्ञानी को
क्व	कहाँ
लौकिकम्	लौकिक व्यवहार
क्व	कहाँ
लयः	लय है ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
समाधि	समाधि है ?

भावार्थ ।

मृत्यु कहाँ है ? और जीवन कहाँ है ? आत्मा तीनों कालों में एकरस ज्यों का त्यों अपनी महिमा में स्थित है । उसमें जन्म कहाँ ? मरण कहाँ ? लोक कहाँ ? लोकों में होनेवाले

पदार्थ कहाँ हैं ? लय कहाँ है ? और समाधि कहाँ ? अपनी महिमा में जो स्थित है, उसमें लयादि भी तीनों कालों में नहीं है ॥ ७ ॥

मूलम् ।

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाऽप्यलम् ।
अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

अलम्, त्रिवर्गकथया, योगस्य, कथया, अपि, अलम्, अलम्, विज्ञानकथया, विश्रान्तस्य, मम, आत्मनि ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
आत्मनि	आत्मा में
विश्रान्तस्य	विश्रान्त हुए
मम	मुझको
त्रिवर्गकथया	धर्म, अर्थ और काम की कथा से
अलम्	पूर्णता है ?
योगस्य	योग की
कथया	कथा से
अलम्	पूर्णता है
च	और
विज्ञानकथया	विज्ञान की कथा से भी
अलम्	पूर्णता है ॥

भावार्थ ।

धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष इनकी कथाओं से, योग की कथाओं से विज्ञान की कथाओं से भी कुछ प्रयोजन नहीं है । क्योंकि मैं आत्मा में विश्रान्ति को प्राप्त हुआ हूँ ॥ ८ ॥

इति श्रीअष्टावक्रगीतायामेकोनविंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ।

—:o:—

बीसवाँ अध्याय।

—:o:—

मूलम् ।

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः ।
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरञ्जने ॥ १ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, भूतानि, क्व, देहः, वा, क्व, इन्द्रियाणि, क्व, वा, मनः, क्व, शून्यम्, क्व, च, नैराश्यम् मत्स्वरूपे, निरञ्जने ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निरञ्जने	निरञ्जन
मत्स्वरूपे	मेरे स्वरूप में
क्व	कहाँ
भूतानि	आकाशादि भूत है ?
क्व	कहाँ
देहः	देह है ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
इन्द्रियाणि	इन्द्रियाँ हैं ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
मनः	मन है ?
क्व	कहाँ
शून्यम्	शून्य है ?
क्व	कहाँ
नैराश्यम्	आशा का अभाव है ?

भावार्थ ।

अब बीसवें प्रकरण का आरम्भ करते हैं—

विद्वानों की स्वभाव-भूत जो जीवन्मुक्ति दशा है, उसको अब चौदह श्लोकों के द्वारा इस प्रकरण में निरूपित करते हैं—

शिष्य कहता है कि संपूर्ण उपाधियों से शून्य जो मेरा स्वरूप है, उस निरञ्जन मेरे स्वरूप में पाँच भूत कहाँ हैं ? और सूक्ष्म भूतों का कार्य इन्द्रिय कहाँ है, और मन कहाँ है ?

प्रश्न–क्या तुम शून्य हो ?

उत्तर–शून्य भी मुझ में नहीं है, क्योंकि सद्रूप आत्मा में शून्य भी तीनों कालों में नहीं रह सकता है । शून्य कल्पित है । बिना अधिष्ठान के शून्य की कल्पना भी नहीं हो सकती है । इन संपूर्ण भूत इन्द्रियादि कल्पित पदार्थों का मैं साक्षी हूँ ॥ १ ॥

मूलम् ।

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः ।
क्व तृप्तिः क्व वितृष्णत्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा ॥ २ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, शास्त्रम्, क्व, आत्मविज्ञानं, क्व, वा, निर्विषयम्, मनः, क्व, तृप्तिः, क्व, वितृष्णत्वम्, गतद्वन्द्वस्य, मे, सदा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सदा	सदा	निर्विषयम्	विषय-रहित
गतद्वन्द्वस्य	द्वन्द्व-रहित	मनः	मन है
मे	मुझको	क्व	कहाँ
क्व	कहाँ	तृप्तिः	तृप्ति है ?
शास्त्रम्	शास्त्र है ?	वा	और
क्व	कहाँ	क्व	कहाँ
आत्मविज्ञानम्	आत्म-ज्ञान है ?	वितृष्णत्वम्	तृष्णा का अभाव है ?
क्व	कहाँ		

भावार्थ ।

हे गुरो ! मेरा शास्त्र से और शास्त्र-जन्य ज्ञान से क्या प्रयोजन है ? और आत्म-विश्रान्ति से भी मेरा क्या प्रयोजन है ? सबके गलित होने से मुझ को न विषय वासना है, न निर्वासना है, न तृप्ति है, न तृष्णा है, न द्वन्द्व है, न अद्वन्द्व है, किन्तु मैं शान्त एक रस हूँ ॥ २ ॥

मूलम् ।

क्व विद्या क्व च वाऽविद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा ॥
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपता ॥ ३ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, विद्या, क्व, च, वा, अविद्या, क्व, अहम्, क्व, इदम्, मम, क्व, वा, क्व, बन्धः, क्व, च, वा, मोक्षः, स्वरूपस्य, क्व, रूपता ॥

अन्वयः । शब्दार्थ ।	अन्वयः । शब्दार्थ ।
स्वरूपस्य=मेरे रूप को	क्व=कहाँ
क्व=कहाँ	इदम्=यह ग्राह्य वस्तु है ?
रूपता=रूपता है	वा=अथवा
क्व=कहाँ	क्व=कहाँ
विद्या=विद्या है ?	मम=मेरा है ?
च=और	वा=अथवा
क्व=कहाँ	क्व=कहाँ
अविद्या=अविद्या है ?	बन्धः=बन्ध है ।
क्व=कहाँ	च=और
अहम्=अहंकार है ?	क्व=कहाँ
वा=और	मोक्षः=मोक्ष है ?

भावार्थ ।

मेरे अविद्या आदि धर्म कहाँ हैं ? अहंकार कहाँ है ? वाह्य वस्तु कहाँ है ? ज्ञान कहाँ है ? मेरा किसके साथ सम्बन्ध हैं ? सम्बन्ध दूसरे के साथ होता है, दूसरा न होने से मैं सम्बन्ध-रहित हूँ । बन्ध और मोक्ष धर्म भी मुझ में नहीं हैं । मेरे निर्विशेष स्वरूप में धर्म की वार्ता भी कोई नहीं है, और निर्धर्मक मेरे स्वरूप में विद्या आदि कोई भी धर्म नहीं है ।। ३ ।।

मूलम् ।

क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा ।
क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा ।। ४ ।।

पदच्छेदः ।

क्व, प्रारब्धानि, कर्माणि, जीवन्मुक्तिः, अपि, क्व, वा, क्व, तत्, विदेहकैवल्यम्, निर्विशेषस्य, सर्वदा ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सर्वदा	सर्वदा
निर्विशेषस्य	निर्विशेष अर्थात् धर्माधर्म-रहित
मे	मुझको
क्व	कहाँ
प्रारब्धानि	प्रारब्ध
कर्माणि	कर्म हैं ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
जीवन्मुक्तिः	जीवन्मुक्ति है ?
च	और
क्व	कहाँ
तद्विदेहकैवल्यम् अपि	वह विदेहमुक्ति भी है ?

भावार्थ ।

शिष्य कहता है कि हे गुरो ! मुझ निर्विशेष, निराकार

निरवयव आत्मा का प्रारब्ध-कर्म कहाँ है ? जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति कहाँ है, किन्तु कोई भी वास्तव में नहीं है ॥ ४ ॥

मूलम् ।

क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा ।
क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्य मे सदा ॥ ५ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, कर्ता, क्व, च, वा, भोक्ता, निष्क्रियम्, स्फुरणम्, क्व, वा, क्व, अपरोक्षम्, फलम्, वा, क्व, निःस्वभावस्य, मे, सदा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सदा	सदा
निःस्वभावस्य	स्वभाव-रहित
मे	मुझको
क्व	कहाँ
कर्त्ता	कर्तापना है ?
च	और
क्व	कहाँ
भोक्ता	भोक्तापना है ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
निष्क्रियम्	क्रिया-हीनता है ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
स्फुरणम्	स्फुरण है ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
अपरोक्षम्	प्रत्यक्ष ज्ञान है ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
फलम्	विषयाकारवृत्त्यवच्छिन्न चेतन है ?

भावार्थ ।

जो मैं स्वभाव से रहित हूँ उस मुझ में कर्तृत्वकर्म कहाँ है ? और भोक्तृत्वकर्म कहाँ है ? अर्थात् कर्तापना और भोक्तापना दोनों में नहीं है । क्योंकि क्रिया से रहित मुझ आत्मानन्द

में कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों नहीं बनते हैं । इसी वास्ते वृत्ति-रूप ज्ञान भी मुझ में नहीं है । क्योंकि चित्त के स्फुरण से वृत्ति-रूप ज्ञान उत्पन्न होता है, वह चित्त का स्फुरण भी मुझ में नहीं है ॥ ५ ॥

मूलम् ।

क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा ।
क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ ६ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, लोकः, क्व, मुमुक्षुः, वा, क्व, योगी, ज्ञानवान्, क्व, वा, क्व, बद्धः, क्व, च, वा, मुक्तः, स्वस्वरूपे, अहम्, अद्वये ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्	आत्मा-रूप
अद्वये	अद्वैत
स्वस्वरूपे	अपने स्वरूप में
क्व	कहाँ
लोकः	लोक है ?
क्व	कहाँ
मुमुक्षुः	मुमुक्षु है ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
योगी	योगी है ?
क्व	कहाँ
ज्ञानवान्	ज्ञानवान् है ?
वा	अथवा
क्व	कहाँ
बद्धः	बद्ध है ?
च	और
वा	अथवा
क्व	कहाँ
मुक्तः	मुक्त है ?

भावार्थ ।

अद्वैत आत्मा में भूरादि लोक कहाँ है ? अर्थात् कहीं नहीं हैं ।

और लोकों के अभाव होने से मुमुक्षु भी नहीं हैं। मुमुक्षु के अभाव होने से ज्ञानवान् योगी भी नहीं है। ऐसा होने से न कोई बद्ध है और न कोई मुक्त है, केवल अद्वैत आत्मा ही है ॥ ६ ॥

मूलम् ।

क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम् ।
क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ ७ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, सृष्टिः, क्व, च, संहारः, क्व, साध्यम्, क्व, च, साधनम्, क्व, साधकः, क्व, सिद्धिः, वा, स्वस्वरूपे, अहम्, अद्वये ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
अहम्-आत्मा-स्वरूप		साध्यम्-साध्य	
अद्वये-अद्वैत		च-और	
स्वस्वरूपे-अपने स्वरूप में		क्व-कहाँ	
क्व-कहाँ		साधनम्-साधन ?	
सृष्टिः-सृष्टि		क्व-कहाँ	
च-और		साधकः-साधक	
क्व-कहाँ		वा-और	
संहारः-संहार ?		क्व-कहाँ	
क्व-कहाँ		सिद्धिः-सिद्धि है ?	

भावार्थ ।

सृष्टि कहाँ ? प्रलय कहाँ ? साध्य कहाँ ? साधन कहाँ ? साधक कहाँ ? और सिद्धि कहाँ। अर्थात् इनमें से कोई भी मुझ अद्वैत-स्वरूप आत्मा में नहीं है ॥ ७ ॥

मूलम् ।

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा ।
क्व किञ्चित्क्व न किञ्चिद्वा सर्वदा विमलस्य मे ॥ ८ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, प्रमाता, प्रमाणम्, वा, क्व, प्रमेयम्, च, प्रमा, क्व, किञ्चित्, क्व, न, किञ्चित्, वा, सर्वदा, विमलस्य, मे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सर्वदा	सर्वदा
विमलस्य	निर्मल-रूप
मे	मुझको
क्व	कहाँ
प्रमाता	प्रमाता ?
वा	और
क्व	कहाँ
प्रमाणम्	प्रमाण ?
च	और
क्व	कहाँ
प्रमेयम्	प्रमेय
च	और
क्व	कहाँ
प्रमा	प्रमा
क्व	कहाँ
किञ्चित	किंचित्
वा	और
क्व	कहाँ
न किञ्चित्	अकिंचित् ॥

भावार्थ ।

सर्वदा जो उपाधि-रूपी मल से रहित हैं, अर्थात् जिसमें उपाधि शरीरादि वास्तव में नहीं हैं। उसमें प्रमातापना, प्रमाण-पना और प्रमेयपना कहाँ हो सकता है। अर्थात् प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय ये तीनों अज्ञान के कार्य हैं। जब स्वप्रकाश चेतन में अज्ञान की संभावना मात्र भी नहीं है तब उसके कार्यों की संभावना कैसे हो सकती है किन्तु कदापि नहीं हो सकती

है। और प्रमा जो वृत्तिज्ञान है, वह भी नहीं है। क्योंकि वृत्ति-ज्ञान अन्तःकरण का धर्म है, वह अन्तःकरण ही उसमें नहीं है। वह शुद्ध-स्वरूप आत्मा है ॥ ८ ॥

मूलम् ।

क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता ।
क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे ॥ ९ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, विक्षेपः, क्व, च, एकाग्र्यं, क्व, निर्बोधः, क्व, मूढता, क्व, हर्षः, क्व, विषादः, वा, सर्वदा, निष्क्रियस्य, मे ॥

अन्वयः।	शब्दार्थ।	अन्वयः।	शब्दार्थ।
सर्वदा	सर्वदा	निर्बोधः	अज्ञान
निष्क्रियस्य	क्रिया-रहित	क्व	कहाँ
मे	मुझको	मूढ़ता	मूढ़ता
क्व	कहाँ	क्व	कहाँ
विक्षेपः	विक्षेप	हर्षः	हर्ष
च	और	वा	और
क्व	कहाँ	क्वः	कहाँ
एकाग्र्यम्	एकाग्रता	विषादः	शोक
क्व	कहाँ		

भावार्थ।

शिष्य कहता है कि हे गुरो ! सर्वदा क्रिया से रहित जो मेरा स्वरूप है, उसमें एकाग्रता कहाँ है ? जहाँ पर प्रथम विक्षेप होता है वहाँ पर विक्षेप की निवृत्ति के लिये एकाग्रता

की जाती है, वह मुझ में विक्षेप तो तीनों कालों में है नहीं. तब एकाग्रता कौन करे और निबंधिता अर्थात् मूढ़ता भी मुझ में नहीं है, क्योंकि ज्ञान-स्वरूप आत्मा में मूढ़ता तीनों कालों में नहीं है, और हर्ष भी मुझमें नहीं है, और न विषाद है। क्योंकि हर्ष और विषाद दोनों अन्तःकरण के धर्म हैं, वह अन्तःकरण क्रिया वाला है। आत्मा क्रिया-रहित है, उसमें हर्ष और विषाद कहाँ है ॥ ९ ॥

मूलम् ।

क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता ।
क्व सुखं क्व च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे सदा ॥ १० ॥

पदच्छेदः ।

क्व, च, एषः, व्यवहारः, वा, क्व, च, सा, परमार्थता, क्व, सुखम्, क्व, च, वा, दुःखम्, निर्विमर्शस्य, मे, सदा ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सदा	सर्वदा	सा	वह
निर्विमर्शस्य	निर्मल-रूप	परमार्थता	परमार्थता है ?
मे	मुझको	वा	अथवा
क्व	कहाँ	क्व	कहाँ
एषः	यह	सुखम्	सुख
व्यवहारः	व्यवहार	च	और
च	और	क्व	कहाँ
क्व	कहाँ	दुःखम्	दुःख

भावार्थ ।

सर्वदा जो निर्विशेष्य अर्थात् वृत्ति-ज्ञान से शून्य जो मैं

हूँ, मुझ में व्यवहार कहाँ है ? अर्थात् व्यावहारिक पदार्थों का ज्ञान कहाँ है ? और पारमार्थिक ज्ञान कहाँ है ? ये भी दोनों अन्तःकरण के धर्म हैं, और सुख तथा दुःख भी मुझ में नहीं है, क्योंकि ये भी दोनों अन्तःकरण के धर्म हैं ॥ १० ॥

मूलम् ।

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा ।
क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे ॥ ११ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, माया, क्व, च, संसारः, क्व, प्रीतिः, विरतिः, क्व, वा, क्व, जीवः, क्व, च, तत्, ब्रह्म, सर्वदा, विमलस्य, मे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सर्वदा	सर्वदा	प्रीतिः	प्रीति
विमलस्य	निर्मल	च	और
मे	मुझको	क्व	कहाँ
क्व	कहाँ	विरतिः	विरति
माया	माया	क्व	कहाँ
च	और	जीवः	जीव
क्व	कहाँ	च	और
संसारः	संसार	क्व	कहाँ
क्व	कहाँ	तद्ब्रह्म	वह ब्रह्म

भावार्थ ।

हे गुरो ! सर्वदा विमल उपाधि से शून्य जो मैं हूँ, उस मुझ में माया कहाँ है और माया के अभाव होने से माया

का कार्य जगत् मुझ में कहाँ है ? वह भी तीनों कालों में मुझ में नहीं है ? और प्रीति तथा विरति भी मुझ में नहीं है ? और जीव तथा ब्रह्मभाव भी मुझ में नहीं है ? क्योंकि दोनों माया अविद्या-रूपी उपाधियों से ही कहे जाते हैं। जब कोई भी उपाधि वास्तव में नहीं है, तब जीवभाव और ईश्वराभाव भी कहना नहीं बनता है ।। ११ ।।

मूलम् ।

क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च बन्धनम् ।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा ।। १२ ।।

पदच्छेदः ।

क्व, प्रवृत्तिः, निवृत्तिः, वा, क्व, मुक्तिः, क्व, च, बन्धनम्, कूटस्थनिर्विभागस्य, स्वस्थस्य, मम, सर्वदा ।।

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।	अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
सर्वदा	सर्वदा	क्व	कहाँ
स्वस्थस्य	स्थिर	निवृत्तिः	निवृत्ति
कूटस्थ-निर्विभागस्य	कूटस्थ और विभाग--रहित	च	और
मम	मुझको	क्व	कहाँ
क्व	कहाँ	मुक्तिः	मुक्ति
प्रवृत्तिः	प्रवृत्ति	च	और
वा	अथवा	क्व	कहाँ
		बन्धनम्	बन्ध

भावार्थ ।

कूटस्थ-विभाग से रहित और क्रिया से रहित जो मैं हूँ, उस मुझ में प्रवृत्ति कहाँ है ? और निवृत्ति कहाँ है ? मुक्ति कहाँ है ? और बन्ध कहाँ है ? अर्थात् ये सब निर्विकार आत्मा में कभी भी नहीं बन सकते हैं ॥ १२ ॥

मूलम् ।

क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः ।
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य, मे ॥ १३ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, उपदेशः, क्व, वा, शास्त्रम्, क्व, शिष्यः, क्व, च, वा, गुरुः, क्व, च, अस्ति, पुरुषार्थः, वा, निरुपाधेः, शिवस्य, मे ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
निरुपाधेः	उपाधि-रहित
शिवस्य	कल्याण-रूप
मे	मुझको
क्व	कहाँ
उपदेशः	उपदेश
वा	अथवा
क्व	कहाँ
शास्त्रम्	शास्त्र
क्व	कहाँ
शिष्यः	शिष्य
च	और
वा	अथवा
क्व	कहाँ
गुरु	गुरु
च	और
क्व	कहाँ
पुरुषार्थः	मोक्ष
अस्ति	है ?

भावार्थ ।

शिव-रूप अर्थात् कल्याण-रूप उपाधि से रहित जो मैं हूँ, उस मेरे लिये उपदेश कहाँ हैं ? क्योंकि उपदेश जो होता है, अपने से भिन्न को होता है, वह अपने से भिन्न तो कोई भी नहीं है। इस वास्ते शास्त्र-गुरु-रूपी उपदेश कभी नहीं है, और शिष्य-भाव तथा गुरुभाव भी नहीं है, क्योंकि ये सभी को ले करके ही होते हैं ॥ १३ ॥

मूलम् ।

क्व चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयम् ।
बहुनाऽत्र किमुक्तेन किञ्चिन्नोत्तिष्ठते मम ॥ १४ ॥

पदच्छेदः ।

क्व, च, अस्ति, क्व, च, वा, न, अस्ति, क्व, अस्ति, च, एकम्, क्व, च, द्वयम्, बहुना, अत्र, किम्, उक्तेन, किञ्चित्; न, उत्तिष्ठते, मम ॥

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
क्व=कहाँ	
अस्ति=अस्ति	
च=और	
क्व=कहाँ	
नास्ति=नास्ति	
च=और	
क्व=कहाँ	
एकम्=एक	
अस्ति=है ?	
च=और	

अन्वयः ।	शब्दार्थ ।
क्व=कहाँ	
द्वयम्=दो	
अत्र=इसमें	
बहुना=बहुत	
उक्तेन=कहने से	
किम्=क्या प्रयोजन	
मम=मुझको	
किञ्चित्=कोई वस्तु	
न=नहीं	
उत्तिष्ठते=प्रकाश करता है ॥	

भावार्थ ।

मुझमें अस्ति अर्थात् है और नास्ति अर्थात् नहीं है, यह भी स्फुरण नहीं होता है। क्योंकि असत्य की अपेक्षा से 'अस्ति' व्यवहार होता है, और सत्य की अपेक्षा से 'नास्ति' व्यवहार होता है, वह मुझ में व्यवहार के अभाव से दोनों नहीं है। न एक-पना है, न द्वैतपना है। बहुत कथन करने से क्या प्रयोजन है, चैतन्यस्वरूप में कुछ भी नहीं बनता है ।। १४ ।।

इति श्रीबाबूजालिमसिंहकृताष्टावक्रगीताभाषाटीकायां
जीवन्मुक्तचतुर्दशकं नाम विंशतिकं प्रकरणं
समाप्तम् ।। २० ।।

—:०:—

मुद्रक—श्रीमती कमला भार्गव द्वारा—तेजकुमार प्रेस (प्रा०) लिमिटेड, लखनऊ।
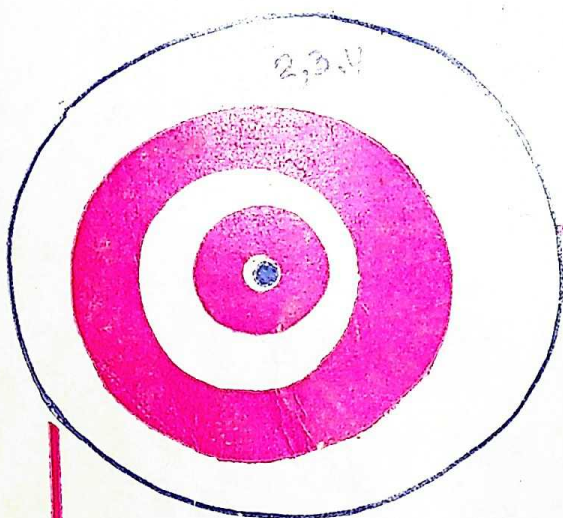
प्रकाशक :
तेजकुमार बुकडिपो (प्रा०) लिमिटेड
पोस्ट बाक्स ८५ १-त्रिलोकनाथ रोड, लखनऊ-२२६००१